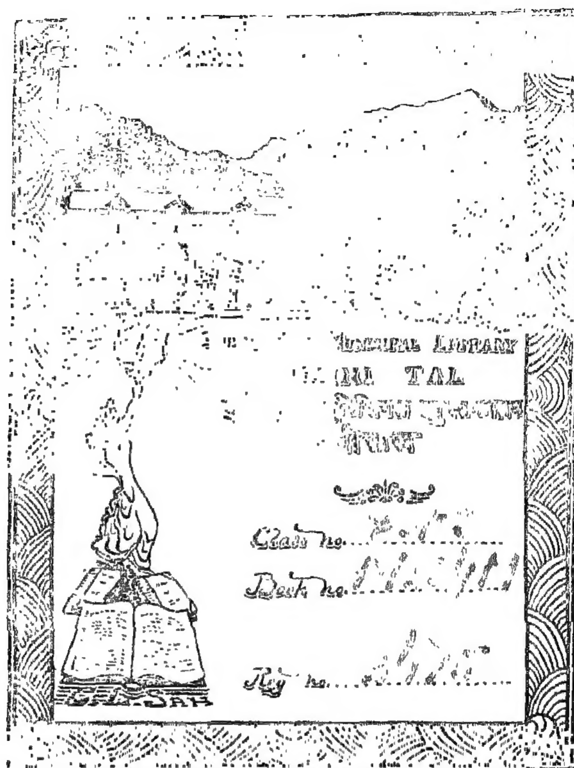


मुक्ति-द्वार



'मुक्ति-द्वार' का प्रथम संस्करण सन् ५३ में इन्दौर से प्रकाशित हुआ था और द्वितीय ५५ में मथुरा से प्रकाशित हो रहा है।

मेरे सम्पूर्ण साहित्य में केवल यही एक पुस्तक ऐसी है—जिसे कि मैं लिखता जाता था और लम्बी अवधि तक उसकी भाव-पृष्ठ-भूमि की मृदु-कटु स्मृति कर, मरण-दोल पर झूला करता था निशि-दिन ही। चिकित्सकों की दृष्टि-सृष्टि में उस समय पागलपन की सीढ़ियों पर बढ़ रहे थे चरण मेरे।

इसका प्रमुख नायक 'जीवन' अभी भी जीवित ही है और उसका कथन है कि इस समय मैंने अपनी जीवन-गाथा को अत्यधिक सूक्ष्म ही में निवेदन किया है। साध उसकी यह कि भविष्य में अब जब-जब भी आपके समक्ष आऊँ—नवीन रूप लिए हुए ही और अपनी हृदय द्रावक वेदना के सुधि-दीप को विस्तार पूर्वक सँजोए हुए ही।

—महेशशरण जौहरी 'ललित'

मुक्ति-द्वार

अन्तर्द्वन्द्वात्मक मनोवैज्ञानिक प्रेरक उपन्यास

मध्यभारत-सरकार द्वारा पुरस्कृत

महेशशरण जौहरी "कविवर"

प्रकाशक :-
जगत बुकडिपो, मथुरा





द्वितीय संस्करण, ११००



मूल्य २)



मुद्रकः-
बैजनाथ दानी
लोक-साहित्य प्रेस,
मथुरा

यह 'मुक्ति-द्वार'....

'ललित'जी हिन्दी के जाने माने पहिचाने कवि और कथाकार हैं। उनकी लेखनी में जो मस्ती और निरालापन है, उसकी प्रशंसा देश के बड़े-से-बड़े साहित्यकार तथा बुद्धि-जीवी-वर्ग ने की है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों दृष्टियों से उनमें सच्चे कलाकार का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उनकी रचनाओं की विशेषता इसी में है कि पाठक उन्हें पढ़ते-पढ़ते स्वयं को भी भूलने लगता है और लेखक के विचारों की गहराइयों में इस भाँति डूब जाता है कि उससे बाहर निकलने को जी ही नहीं चाहता।

प्रस्तुत पुस्तक 'मुक्ति-द्वार' 'ललित'जी का अन्तर्द्वंद्वात्मक सफल मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। मध्यभारत-सरकार द्वारा निर्मित कला परिषद्, ग्वालियर ने इस पुस्तक की महत्ता को स्वीकार किया है और उस पर ४००) रु० पुरस्कार प्रदान कर, लेखक को सम्मानित भी किया है।

'ललित'जी के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त है कि—उनका जन्म वैशाख शुक्ल पंचमी, सं० १९७८ वि० में राजर्षि विक्रमादित्य की नगरी उज्जयिनी में मध्यभारत के सुप्रसिद्ध हिन्दी-सेवी मुन्शी चतुरबिहारीलालजी के घर हुआ। दुर्भाग्य से माता-पिता का स्वर्गवास उनकी दो वर्ष की आयु में ही हो गया। स्वजनों से उन्हें तिरस्कार मिला और कुटुम्बियों से प्रताड़ना। फलतः बचपन में ही अनाथ होकर वे घर से निकल पड़े।

संघर्षों की झंझा-झकोरों ने 'ललित'जी को कला-मन्दिर के साधना-पथ पर अग्रसर करने में महान् सहायता की। तभी से यह अलबेला कला-पुजारी निरन्तर वाणी-मन्दिर में अपनी अर्चना के फूल चढ़ाता हुआ मानव-मन को प्रफुल्लित एवं सुरभित करता आ रहा है।

'ललित'जी की लगभग बारह पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें गद्य-पद्य दोनों ही हैं। इसके साथ ही आप 'नवयुग', 'आगामीकल', 'विक्रम', संग्राम', 'नया ज़माना', 'लोक-तन्त्र', 'जनार्दन', 'मार्तण्ड' तथा 'मतवाला' आदि प्रसिद्ध पत्रों के प्रधान एवं सहसम्पादक भी रह चुके हैं।

जिस प्रकार 'ललित'जी के गीतों में एक अजीब मस्ती भरी रहती है और आकाशवाणी से प्रसारित होने के समय श्रोतागण झूम-झूम उठते हैं, उसी प्रकार उनके गद्य में भी एक अजीब-निराला-बाँकापन है, जो पाठकों के हृदय में गुदगुदी पैदा कर देता है।

'ललित'जी हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध आधार-स्तम्भ श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को अपना गुरू मानते हैं और उन्हीं के पथ पर निरन्तर हस्ती-मस्ती के साथ बढ़े जा रहे हैं। आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। अपने उग्रवादी स्वभाव के कारण उनकी अहंभावियों से पटरी नहीं बैठती और यही कारण है कि वे बहुत समय तक किसी एक स्थान पर अभी तक नहीं टिक सके हैं।

आज-कल 'ललित'जी मथुरा में विद्यमान हैं और यहीं रह कर अपनी साधना में संलग्न हैं। हमारी प्रभु से प्रार्थना है कि वे मथुरा नगरी के सम्मानार्थ, चिरकाल तक यहाँ निवास करें और हम मथुरा निवासियों को उनकी कलात्मक उग्रता को सहन करने की क्षमता भी प्रदान करें।

आशा है, 'मुक्ति-द्वार' का यह नवीन परिमार्जित संशोधित द्वितीय संस्करण पाठकों को अधिक रुचिकर होगा तथा हिन्दी-साहित्य में एक नवीन धारा को प्रवाहित करने में समर्थ भी।

प्रकाशक

श्री महेशशरण जौहरी 'ललित' कृत 'मुक्तिद्वार' का यह दूसरा संस्करण है। उपन्यास की लोकप्रियता का यह प्रमाण है।

जौहरीजी कवि हैं। उनकी कृतियाँ कवि के भावों से ओतप्रोत रहती हैं। भाषा भी उनकी गद्यकाव्य और कभी कभी मुक्तक छन्द का रूप ले लेती है। भावों में कहीं कहीं इसीलिये अतिशयता दिखलाई पड़ती है। जो कुछ उन्हें कहना होता है कह डालते हैं। पाठकों को उनका यह कवि-स्वभाव नहीं अखरता है। मेरी शुभकामनायें।

झांसी
२२-४-१९५१

वृन्दावनलाल वर्मा

जिनकी बाँकी हृद-झाँकी मैं अपने होश में न आँक सका,
जिन्होंने यथार्थ के लिए अन्तिम क्षणों तक भीषण संघर्ष किया
और उसी में अपनी जीवन-बाती बुझवाई भी,
जिनके प्रति मेरे अन्तःकरण में सदैव ही से पूर्ण आस्था है,
उन्हीं स्वर्गीय मझले भय्या

श्रद्धेय श्रीयुत रामशरणजी जौहरी

को

सादर, सानुराग—

॥ रवि ॥

मुक्ति-द्वार

: १ :

शहर का नाम न बताया जाए तब भी यह कहानी आगे बढ़ ही सकेगी और यही मानकर इस समय आपको वह स्थान बताए देता हूँ— जहाँ कि आज से तीस वर्ष पूर्व एक कायस्थ-परिवार रहा करता था। यह परिवार मुंशी-परिवार के नाम से समस्त देश ही में विख्यात था। आज भी विख्यात है क्या, यही देखने बढ़े चलें हम ! इस परिवार के निर्माता थे मुंशी मोहकलाल। मोहकलालजी स्थायी-निवासी थे उत्तर-प्रदेश के एक सलोने, गंगा-तीरे बसे हुए एक गाँव ही के। उनके पिताजी जीवित थे और उन्हीं के द्वारा उन्हें घर से निर्वासन भी मिला। स्वार्थी सभी होते हैं—थोड़े-बहुत—किन्तु समस्त देश में कायस्थ इसीलिए अत्यधिक बदनाम हैं कि वे वाणी के परिपक्व, भाषावान-चरित्रवान सौ में से पाँच नहीं—लाखों में से पाँच ही दृष्टिगोचर होते हैं। मोहकलाल-जी इतने मोहक ही थे कि वे जब अपने पिताजी-द्वारा घर से निकाले जाने पर गाँव से सहसा ही शहर में आए तो वे स्थानीय एक पाठशाला में बारह रुपये माहवार पर अध्यापक नियुक्त हो गए। जिस समय मोहकलालजी घर से सड़क पर आए—उनके समीप छः रुपयों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। वे अत्यधिक धैर्यवान थे इसीलिए उन्होंने सभी कुछ सहा—किन्तु अपने लिए अन्त तक किसी से कुछ भी नहीं कहा।

दीन-दुखी मोहकलालजी के भाग्य ने यथा शीघ्र ही अपनी करवट बदली। वे अध्यापक से प्रधान अध्यापक और इसके कुछ ही वर्षों बाद प्रान्त के सहायक शिक्षा-निरीक्षक भी बना दिए गए। धीरे-धीरे मोहकलालजी की मोहकता समस्त प्रान्त—देश में ऐसी प्रसारित हुई कि सभी उनकी अच्छाइयों की मुक्त-हृदय ही से नित्य ही चर्चा करने लगे। उनका स्वभाव था यह कि अनाथ बच्चों को अपनी आय से पढ़ाना—पढ़ा कर उन्हें किसी पाठशाला का योग्य अध्यापक बनाना। एक नहीं—सैकड़ों विधवा बहिनों के साथ भी उन्होंने इसी प्रकार की मानवता का सदुपयोग किया और यही कारण था कि उनके समक्ष—पीछे सभी उन्हें देवता-स्वरूप ही समझने लगे—स्वार्थवश नहीं, आत्मीयतावश ही!

मोहकलालजी कायस्थ होते हुए भी ईश्वर-भक्त, उर्दू—हिन्दी के विद्वान् लेखक-प्रकाशक थे। पूंजी अधिक न होने पर भी उन्होंने अपने बालोपयोगी साहित्य को प्रकाशित कराया। उनके उस साहित्य की ऐसी गूँज उठी कि यथा शीघ्र ही समस्त देश में छा गई—सभी को भा गई—सभी को हरषा-सरसा गई और आज भी उसकी वही गति है—रहेगी भी—इसलिए कि साधना वह साधना ही! आर्थिक-परिवर्तन में भी अन्तर इतना आ गया कि घर से छः रुपये लेकर आने वाले व्यक्ति के समीप हजारों की नहीं—उसके ही रक्त-परिश्रम से प्राप्त लगभग एक लाख से अधिक की सम्पदा एकत्रित हो गई थी। यह विकास एक-दो दिन में नहीं हुआ—बीते वर्ष बीस इसमें। इस समय मुंशीजी अपनी बड़ी बहिन, पत्नी—पुत्र—पुत्री—बहुएँ—नाती—नातिन सहित रहते थे। हाँ, विवाह उन्होंने अपने तीन किए थे। प्रथम पत्नी का देहावसान हो गया था और द्वितीय, एक कन्या—तीन पुत्र स्मृति-स्वरूप छोड़ गईं थीं। इन बच्चों का लालन-पालन-पढ़ाई-लिखाई-विवाह बड़े चाव और रईसी रंग-ढंग लिए हुए ही हुए। तृतीय पत्नी से चार पुत्र एक कन्या

हुई। कन्या चली गई आकर—पुत्र सुरक्षित थे—तेरह, छः, तीन और डेढ़ वर्ष की अवस्था ही के।

नारी—हृदय की भीषण उपेक्षा होती है कायस्थ-जाति ही में। पुरुष अपनी पत्नी के देहान्त के बाद एक नहीं-कई विवाह कर सकते हैं और पत्नी अपने पति—प्रथम पति से बिछुड़ जाने के पश्चात् किसी ओर झाँक-झाँक तक नहीं सकती। पुरुष का कार्य शराब पीना, माँस खाना, बातें बनाना, पत्नी का अपराध न होने पर भी निरन्तर ही लातें लगाना ही है—इसलिए कि प्रथम पत्नी मरे—दूसरी आए—दहेज मिले और फिर मिले पीने को वही शराब—खाने को बकरे का गोश्त ही। दहेज, शराब, अय्याशी की साध—नारी—तिरस्कार—हैं यही कायस्थ-जाति के पुरुष-वर्ग की कहानियाँ—रवानियाँ—जवानियाँ।

मोहकलालजी उक्त प्रकृति के व्यक्ति नहीं थे। भूल हुई थी उनसे यही एक कि सभी के आदेशों से उनके मन की मौज बढ़ती ही गई—बाढ़ की भाँति और उनके जीवन में तीसरी पत्नी का प्रवेश हो गया था।

: २ :

सुलेखक—कवि—समालोचक—संगीतज्ञ—ललित कलाओं के उपासक जीवनजी की अवस्था इस समय चौंतीस वर्ष से अधिक नहीं। नन्हा कद, नन्हीं मूरत, नन्हीं सूरत—किन्तु शोहरत ऐसी कि देश के समस्त ख्यातिप्राप्त पत्र-पत्रिकाओं में उनके गीत, कहानियाँ, समालोचनाएँ, व्यक्ति-दर्शन सगौरव ही प्रकाशित हुआ करते हैं—आज से नहीं—लगभग बीस-इक्कीस वर्षों ही से। मतलब यह कि जीवनजी जब बारह-तेरह वर्ष की अवस्था ही के थे—तभी से देश के सुप्रसिद्ध बालक-बालिकाओं की पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं—लिखा करते थे वयोवृद्ध–सम्मानित–साहित्यिक–सुकवि–सुलेखकों की पत्र-पत्रिकाओं ही में।

जीवन का जीवन समस्त देश के लिए तो प्रश्न-चिन्ह-सा है ही, परन्तु स्वयं उसके लिए भी—आज से नहीं, जन्म ही से—प्रश्न ही सा बन गया है—उस प्रश्न सा—जिसका कि उत्तर जीवन की प्रत्येक धड़कन में अभी से एक क्षण पूर्व तक उमड़ा है—परन्तु इसके पूर्व कभी भी स्पष्ट व्यक्त नहीं हो पाया। जीवन आज न जाने किसके अनुरोध से सम्पूर्ण जीवन में आने-जाने वाले ज्वार-भाटों की कहानी—रवानी–जवानी स्वयं की ही ज़ुबानी सुनाने की ओर बावरा सा अग्रसर हो रहा है—स्वयं की आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए और........!

जीवन के जीवन की सबसे बड़ी उपेक्षा तो प्रकृति ने यह की कि उसके निर्माता मुन्शी मोहकलालजी उसे डेढ़ वर्ष ही का विश्व का मधुर-कटु निरीक्षण-परीक्षण करने के निमित्त छोड़ गए और माँ भी दो वर्ष ही का।

आप कितने ही चतुर क्यों न हों—यदि अनाथ हैं तो प्रकृति-शक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण धरा पर आपका कोई रक्षक नहीं—हैं सभी भक्षक ही—वे भक्षक ही—जो कुछ न चाहने पर भी किसी को विकसित-प्रमुदित-सुललित देखकर नित कामना करते अशुभ ही—हृदय-पटल पर !

पूंजी में सबसे बड़ा अपराध होता है यह कि उसे अकर्मण्यता से पाकर सभी उस दिशा की ओर ही चला करते—जहाँ चलना असंगत ही। पूंजी ही के कारण पुत्र पिता को, पत्नी पति को, पति पत्नी को, भाई बहिन को, बहिन भाई को—सभी दे देते जहर ही। पूंजी ही के कारण जीवन की माँ को संखिया खाकर कुछ ही क्षण में मरना पड़ा—अपने नन्हें-नन्हें चार बच्चों को छोड़ कर ही ! माँ संखिया खाकर मरीं यह जीवन को उसकी नेत्र-विहीना बुआ ही ने बतलाया था और अन्य कई परिवारिकों–दुनियादारों ही ने। जीवन तो अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी दो वर्ष की अवस्था ही से अपने चाचा मुन्शी मस्तीलालजी और चाची ही के पास पिताजी ही की जन्म-भूमि में सात वर्ष की अवस्था तक रहा और बाद में सम्पूर्ण पैतृक-सम्पत्ति के अपने आप ही बन जाने वाले अधिकारी, अपने सौतेले भाई बसन्तीलालजी की एकमात्र पुत्री गुणवती के विवाह में वह उनके समीप आया। जब वह भाई के समीप आया तो उसने अनुभव किया कि यह वही नगर है—जहाँ कि मेरा जन्म हुआ है—जहाँ कि सभी के कथनानुसार मेरे पिताजी ने अपनी जन्म-भूमि से आकर अपना आत्मिक-आर्थिक विकास किया है और

जहाँ कि उसकी असहाय माँ ने बसन्तीलालजी की कुचक्र-प्रकृति को निरख-परख अपना अन्त कर लिया है ।

भाई बसन्तीलालजी के समीप जीवन गुणवती के विवाह के पश्चात् पढ़ाई-लिखाई का प्रलोभन दे रोक लिया गया और उसे उसके पिता की भाँति लाड़-प्यार-दुलार से रखने वाले—गाँव वाले चाचा मस्तीलालजी से विमुख किया । जीवन अपने भाई के निकट ऊँची अट्टालिकाओं में अवश्य रहने लगा था—परन्तु उसे निरन्तर-क्षण-प्रति-क्षण ही अपने पिता की जन्म-भूमि, उन्हीं के द्वारा निर्मित वहाँ का मन्दिर, खेत, आम के बगीचे, कुए की पाल और बाल-सखा अत्यधिक याद आया करते थे । वह कुछ भी ना भूल सका था । अन्तर इतना ही था कि गाँव की सरल-तरल मस्ती-हस्ती में रहने—बहने वाला शिशु, शहर की कुटिलता-जटिलता के बीच आ गया था—छा गया था।

जब चाचाजी के समीप गाँव से जीवन अपने सबसे बड़े भाई बसन्तीलालजी के निकट आया—उस अवधि को भी अब पाँच वर्ष व्यतीत होने आए । अपने माता-पिता के देहावसान के पश्चात् जीवन ने अपने परिवार की गति-विधि को जब अपनी ही पैनी दृष्टि से देखा-सुना तो उसकी आत्मा यथार्थ लिए उचित संघर्ष किया जाए—यह एक ही क्षण में बिना किसी के परामर्श ही के सोचने-समझने लगी । दौलत की आँधी आई थी ऐसी कि जीवन बसन्तीलाल का सबसे छोटा भाई होते हुए भी उसी के यहाँ नौकर की भाँति ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा था । बसन्तीलाल के यहाँ आ जाने पर, नन्हीं अवस्था होने पर भी उसका कार्यक्रम था यह कि वह सुबह छः बजे उठता—मुँह-हाथ धोकर - चाबी लेकर दूकान पर जाता, तीन मंजिला भवन को अकेला ही झाड़ू लगाता, पानी भरता, नौ बजे बसन्तीलाल के साथ थैली लेकर साग उठाने जाता, लाकर घर पहुँचाता, फिर दूकान आता, डाक-घर पुस्तकों की पार्सलें पहुँचाता और ग्यारह

बजने से कुछ ही समय पूर्व वह दूकान से घर जाता और रात का बचा बासी भोजन कर सीधा पाठशाला चला जाता। पाठशाला से चार बजे छुट्टी होने पर उसे सीधे दूकान ही पहुँचना पड़ता। यदि तनिक भी विलम्ब हो जाता तो उसके कोमल शरीर पर लोहे की बेतें पड़ने लगतीं और उसके शरीर पर पड़ती इतनी मार कि वह सदैव मुरझाया-मुरझाया ही सा दृष्टिगोचर होता। पाठशाला से चार बजे आता वह और दस बजे तक सेवक की भाँति दूकान पर ग्राहकों को पुस्तकें देता—बाद में बसन्तीलालजी के साथ दूकान बन्द कर घर जाता—भोजन के लिए थाली पर बैठता ही कि नित्य ही ठीक इसी समय बसन्तीलालजी अपने कमरे से उसे पुकारते—अपने पैर दाबने को कहते—वह सारी रात उनके पैर दाबता रहता पर वे उससे सो जाने के लिए भी नहीं कहते। बारह वर्षीय जीवन का जीवन उसे मरण-सा प्रतीत होने लगा। न वह सो ही पाता—न पढ़ ही पाता और न कभी अपने बाल-सखाओं के साथ क्षण भर भी रह ही पाता, न कुछ कह ही पाता। अनाथ जीवन और पूंजी-पाप की व्याख्या वह निरन्तर करता—अपने ही अन्तर में। सोचता वह—यदि माता-पिता का देहान्त न हुआ होता तो मेरा जीवन भी आज इतना उपेक्षित कदापि न होता।

सभी कुछ सहने के बाद भी जीवन को एक महान् विभूति इसी परिवार में सौभाग्य से सहसा ही प्राप्त हो गई है और वह है बसन्तीलालजी की पत्नी—उसकी ममतामयी भाभी—वह भाभी जिसका कि स्वभाव है बसन्तीलालजी से विपरीत ही—नेह-पूर्ण—न्याय-पूर्ण। भाभी की ममता ने जीवन को सुरक्षित रख लिया है अभी तक और इसीलिए सभी ओर से निरन्तर ही उपेक्षा प्राप्त होने पर भी वह कहीं जा नहीं पाता—दो क्षण के स्नेह को—मातृत्व को पाने की लालसा लिए ही अभी तो सब कुछ सहता ही रहता है।

अचानक एक दिन पाठशाला से लौटने में विलम्ब हो जाने के भय से वह दूकान न जा सका और अपने एक सहपाठी-मीत प्रह्लाद् शर्मा

से तनिक-सा आर्थिक सहयोग ले—उस शहर को छोड़ अकेला ही जंगल-जंगल दस मील तक पैदल ही चला गया। वह बसन्तीलालजी का घर कदापि नहीं छोड़ता—किन्तु उनके व्यवहारों की कटुता और भीषण लोहे की बेंतों के प्रहारों के भय से आखिर वह उस दुष्ट कारा से मुक्त हो बाहर आ ही गया—ईश्वर की अनुकम्पा ही से। वह चाहता तो हजारों की पूंजी घर की तिजोरियों से लेकर भाग सकता था—परन्तु वह ऐसा न कर सका—ऐसा करने की पृष्ठ-भूमि तक भी वह न पहुँच पाया। नन्हीं अवस्था में भी जन्म-जात दुखी जीवन को घर छोड़ते समय सर्व-प्रथम विचारों का ज्वार-भाटा आया यह कि यदि मैं इस परिवार का एक डोरा भी अपनी देह पर धारण कर यदि कहीं चला गया तो मेरी आत्मा निरन्तर ही सिसकेगी और मुझे मृत्यु-क्षण तक भी सुख-शान्ति नहीं मिल पाएगी। यही सब सोच-समझ कर उसने अपने मित्र प्रहलाद् से पैसे लिए—एक पाजामा बनवाया—एक बंगाली कुरता—दो लंगोट। शहर से दस मील गाँव-गाँव आया कि अचानक एक रेल्वे-स्टेशन आ गया। उसके समीप शेष बचे कुछ पैसे थे—वह नाथद्वारा का टिकिट ले उसी ओर रवाना हो गया।

: ३ :

नाथद्वारा आते ही उसके जीवन में परिवर्तन की बयार चली गई कि उसकी आत्मा पूर्व की भाँति अब बोझिल नहीं रही। दिन भर वह मोती-मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर बैठा हुआ आए हुए यात्रियों का अवलोकन किया करता और जब अपने लिए उसे कुछ पैसों की आवश्यकता पड़ती—तो वह हाथ के बने हुए धार्मिक चित्रों को चित्रकार से कमीशन पर लेकर इधर-उधर बेचने को चला जाता। कुछ ही समय की भाग-दौड़ के पश्चात् वह अपनी आर्थिक-समस्या को हल कर लेता—मन्दिर ही से प्रसादी लेता—खाता और फिर रात्रि के आगमन पर वहीं एक टाट बिछा कर सो जाता। प्रातः उसकी नींद मन्दिरों के घन्टे-घड़ियालों को सुनकर शीघ्र ही खुल जाती। नित्य की भाँति वह उठता—कुएँ के जल से स्नान करता और फिर मन्दिर में जाकर श्री ठाकुरजी के दर्शन करता। नाथद्वारा में थी जीवन के जीवन की यही रूपरेखा! उसे वहाँ आए एक माह भी व्यतीत नहीं हो पाया था कि सहसा ही मोतीझरे ने आ घेरा। वह अपनी उसी हालत में वहाँ से उदयपुर के लिए रवाना हो गया।

उदयपुर आते ही जीवन मोतीझरे में ही मजदूरी की खोज करने लगा। सभी के निरन्तर ही पूछने पर भी वह अपने विषय में किसी को कुछ भी नहीं बतलाता—केवल मजदूरी की माँग करता—सम्पन्न परिवार में जन्म पाने के बाद भी उसे किसी भी प्रकार की मजदूरी करने में कोई संकोच न होता। चौबीस घन्टे की खोज के बाद भी जब उसे अपने लिए कोई काम न मिला तो वह गुलाब बाग के समीप ही बनने वाले एक मकान में चार आने रोज पर अपनी रुग्णावस्था में ही ईंटें ढोने लगा। तीन दिन भी मजदूरी नहीं कर पाया था कि अचानक वह वहीं ईंटों सहित निसेनी पर से गिर पड़ा। उसके सिर में गिर जाने से अत्यधिक चोट आई। मकान-मालिक अधिक सज्जन ही थे, इसी से उन्होंने उसे अस्पताल पहुँचा दिया और वे उसकी सेवा में तन-मन-धन से व्यस्त भी हो गए। जब उसके घाव भर गए और वह अस्पताल से घर लाया गया तो उसने अपने मालिक से निवेदन किया—'मुझे लगता है आप में पिता-सा पितृत्व है। आपको पाकर मुझे यह भी अनुभव हुआ कि इस धरा पर सभी ओर केवल दुर्जन-ही-दुर्जन नहीं हैं—हैं आप जैसे सज्जन पुरुष भी !'

'मुझमें क्या सज्जनता देखी ?'

'यही कि आप अपने यहाँ कार्य करने वाले मजदूर बालक को भी अपने-ही पुत्र-सा मानते हैं। यदि ऐसा नहीं मानते तो आप मुझे अन्यों की भाँति तिरस्कृत ही करते !'

'यह तो मेरा धर्म है बेटे ! यदि तुम्हारी ही भाँति मेरी ही कोई सन्तान गिर पड़ती तो मुझे उसके लिए भी तो सभी कुछ करना ही पड़ता !'

जीवन की दृष्टि जमीन की ओर थी। पिता के मृदु प्यार की कल्पना कर उसकी आँखें सहसा ही छलछला आईं। उदयपुर रहना भी अब उसने उचित न समझा। अपने मालिक से बोला वह—

'आपका विशाल हृदय और उदारता को भूल पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है बाबूजी ! अब मैं जाना चाहता हूँ—आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा है !'

'कहाँ जाओगे बच्चे ?'

'मुझे दिशा का ज्ञान नहीं है !'

'फिर जाना क्यों चाहते हो ?'

'इसलिए कि आपके यहाँ भार-स्वरूप रहना नहीं चाहता !'

'तुमसे यह किसने कहा कि मेरे यहाँ तुम भार-स्वरूप हो ?'

'मैं स्वयं अनुमान करता !'

'मेरे यहाँ इस प्रकार के अनुमान न किया करो बच्चे ! जिस प्रकार मेरी पुत्री बेला है—मेरे लिए तो ठीक उसी प्रकार तुम भी हो। हाँ, अपने विषय में तुम मुझे ठीक-ठीक क्यों नहीं बताते कि कहाँ के निवासी हो ? तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है ? तुम घर छोड़ कर क्यों चले आए हो ?'

'यह सब-कुछ बतलाने का ज्ञान मुझमें नहीं है । इतना विश्वास आपको अवश्य दिलवा सकता हूँ कि मैं घर से चोरी करके भागने वाला नहीं हूँ। घर छोड़ने के बाद मजदूरी ही मेरा जीवन है और हूँ उसी पर अवलम्बित भी !'

'तुम्हें देखकर अत्यधिक अचम्भा तो मुझे इस बात का होता है कि मेरे जीवन के पचपन बसन्त—पतझर बीत गए—अपनी इसी अवधि में मैंने न जाने क्या-क्या देखा—पर ग्यारह-बारह वर्षीय तुम-सा ईमानदार-परिश्रमी-भावुक-विवेकशील बालक आज तक कहीं नहीं देख पाया और इसीलिए तुम्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता !'

'मैं समझता हूँ कि आपका विशाल हृदय, किसी भी दीन-दुखी बालक को देखकर, सहज ही इसी प्रकार की कल्पनाएँ करने लगता होगा !'

'ऐसा करना क्या ठीक नहीं ?'

'मैंने इस विचार से यह बात नहीं कही । सच तो यह है कि मैं भी आपको पाकर क्षण-प्रतिक्षण ही सोचता हूँ यह कि काश ! आप जैसे सहृदय ही देश के—मेरे देश के समस्त मानव होते !'

'जब मुझसे इतना आकर्षण, छोड़ मुझे फिर क्यों जाते हो ?'

'मुझे किसी की याद सताती !'

'किसकी ?'

'खेद यही—मैं कह न सकूँगा !'

'तो मुझसे अब क्या चाहते हो ?'

'आपका और आपके परिवार का आशीर्वाद !'

'इसके अतिरिक्त ?'

'विदाई-अनुमति !'

'जाओगे कहाँ ?'

'रतलाम !'

'क्या वहीं के ही निवासी ?'

'.........!'

'बोलते क्यों नहीं ?'

'.........!'

'अच्छा बच्चे ! कल चले आना—तुम्हें भेजने की सारी व्यवस्था मैं कर दूँगा । इस समय जब तुम अपने विषय में मुझे कुछ भी बतलाना उचित नहीं समझते—मैं भी तुम्हारे विषय में, तुम्हीं से सभी कुछ पूछना उचित नहीं समझता !'

'तो मैं कल अवश्य चला जाऊँगा ?'

'अवश्य !'

... ...

उदयपुर से जीवन अब रतलाम आ गया और अपनी आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए कभी वह कचौरियाँ बेचता—कभी किसी हलवाई के यहाँ दूध की कढ़ाई माँजता—कभी अन्य कोई मज़दूरी ही कर लेता। रतलाम उसके पिताजी के नाम से भली-भाँति ही परिचित था—परन्तु वह अपना ठीक-ठीक परिचय किसी को भी नहीं देता। वह सोचता—'मुझे पिताजी के नाम को लांछित करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब तक मेरी जिन्दगी पनपती नहीं—मुझे मौन ही रहना-सहना चाहिए !' सहसा ही एक दिन उसने एक दैनिक-दिल्ली के दैनिक पत्र में पढ़ा—

'प्रिय जीवन,

जिस दिन से तुम घर से चले गए हो—तुम्हारी बुआ-भाभी रात-दिन रोया ही करती हैं—तुम्हारी ही याद में ! तब से न वह कुछ खाती-पीती ही हैं। तुम जहाँ कहीं भी होओ—इस पत्र को पढ़ते ही घर—घर नहीं तो मेरे ही समीप अवश्य ही आ जाओ ! मैं भी हूँ तुम बिन पीड़ित ही।

तुम्हारे ही आगमन की प्रतीक्षा है।

तुम्हारा ही भय्या,

राघवेन्द्र।'

जीवन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता द्वारा अपने ही लिए प्रकाशित विज्ञापन पत्र में पढ़ा और वह एकदम स्तब्ध-सा रह गया—विज्ञापन की भाव-भाषा पर। वह जानता था कि अब से सभी नहीं तो मेरे दादा राघवेन्द्रजी—और मेरी ममतामयी बुआ-भाभी मेरी ही चिन्ता में चिन्तित अवश्य होंगी। उसे भी इन सब की याद अत्यधिक घर से

आया तभी से आया करती ही थी—अभी भी आती ही है—उसके लिए उन्हें भूल पाना स्वप्न में भी है न सम्भव। अपने से छः वर्ष बड़े भाई अवनीश को भी वह भूल नहीं पाता था। इन सभी परिस्थितियों से निकलने के पश्चात् भी वह अत्यधिक गम्भीर ही बना रहा—घर जाने की ओर उसके चरण न बढ़ सके—बसन्तीलालजी के आतंक-भय के कारण ही! खड़ा था वह सड़क पर कि विज्ञापन प्रकाशित होने के चौथे ही दिन बसन्तीलालजी ही के मकान के दो कमरों में इन दिनों किराये से नहीं—आबादी के दृष्टिकोण से रहने-बसने वाले मुन्शी श्रीरामजी उसे मिले और उन्होंने उसे उसी समय झकझोरते हुए कहा—'जीवन! अब तुम्हें मैं छोड़ने वाला नहीं!'

'अब मैं घर नहीं जाऊँगा!'

'क्यों?'

'इसलिए कि बुआ-भाभी के अतिरिक्त सभी मुझे वहाँ व्यर्थ ही में निरन्तर ही मारते हैं—पशुओं की भाँति ही। मेरे माता-पिता मर गए हैं इसका यह अभिप्राय नहीं कि मैं मिट्टी ही!'

'मुझ पर विश्वास करो जीवन! अब तुम्हारी पिटाई नहीं होगी!'

'जहाँ मानवता का कोई मोल तोल नहीं—मैं वहाँ अब एक क्षण भी रहना नहीं चाहता!'

'मैं तुम्हें लेने जो आया हूँ!'

'किसने भेजा है आपको?'

'बसन्तीलालजी ने!'

'मैं यहाँ हूँ—यह उन्हें ज्ञात कैसे हो गया?'

'उन्हें किसी ने बतलाया कि इन दिनों तुम यहाँ हो!'

'मेरी याद आखिर भाई साहब बसन्तीलालजी को आई कैसे?'

'वे किसको याद करते हैं ?—सच तो है यह कि तुम्हारे घर से चले आने के कारण सभी परिचितों में उनकी बदनामी हो रही है और इसीलिए वे नित्य ही तुम्हारी खोज भी कर रहे हैं !'

'तो आप मुझे उनकी इस बदनामी को मिटवाने के लिए ही घर ले चलना चाहते हैं क्या ?'

'मेरी साध तो तुम्हें तुम्हारी बूढ़ी बुआजी और भाभी तक पहुँचाने ही की है। तुम उनके भी समीप रहना नहीं चाहो तो मेरे ही समीप रहना। मैं तुम्हें सुरक्षित ही रखूँगा !'

बुआ-भाभी का नाम सुनते ही जीवन का मुरझाया चेहरा सहसा क्षण भर ही में लम्बी अवधि के पश्चात पुनः विकसित हो गया। उसने अनुभव किया कि जब श्रीरामजी मुझे पकड़ने ही आए हैं—तो अब इनसे आसानी से मुक्ति पा जाना सम्भव नहीं है और यही विचार कर, वह इच्छा न होने पर भी, उन्हीं के साथ-ही-साथ एक बार फिर उसी बिसराए हुए परिवार ही के समीप पहुँच गया। घर आने पर उसने देखा कि वास्तव में उसकी चिन्ता में उसकी बुआ-भाभी तपेदिक की भाँति ही दिनों-दिन घुल रही थीं। उसके घर आते ही उन दोनों में नए प्राण संचार हुए फिर।

: ४ :

इसलाम से बसन्तीलालजी के समीप जीवन को आए अब लगभग आठ माह से ऊपर ही व्यतीत हो गए। वह देख रहा था—केवल बसन्तीलालजी की कूट-नीति के कारण ही उनके परिवार के कई प्रकाशवान दीप बुझ गए और कई अब भी निरन्तर बुझते ही जा रहे हैं। मुन्शी मोहकलालजी के देहावसान के पश्चात उन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र बसन्तीलालजी की कर्म-तालिका रही यह:—

उन्हीं की कटु आलोचना करने वाले, उन्हीं के अलबेले भाई को एक दिन अवसर पाकर उन्होंने जहर दे दिया और बाद में उसकी मृत्यु के पश्चात्, उसकी नवपरिणीता पत्नी से जाकर बोले—'मझली! मझले मर गए—ऊपर जाय रोय लेओ!' मझली अपने जेठ के इन दानवी-स्वरों को सहसा ही सुनकर काँप गईं और सोचने लगीं कि कुछ समय पूर्व ही मुझसे मुस्करा कर वार्तालाप करने वाले मेरे प्राण-नाथ सहसा ही चल कैसे बसे? बाद को वे अपने जेठ की कुटिल करामात को पहचान गईं और इसीलिए अपनी ससुराल सदैव ही के लिए छोड़कर, अपने माता-पिता के समीप मथुरा भी चली गईं। जिस समय मझली विधवा हुईं—उनकी अवस्था बीस वर्ष से अधिक नहीं थी। सास-ससुर-पति महोदय की मृत्यु के पश्चात् भी मझली ने अपने धैर्य को नहीं छोड़ा और वे मजदूरी कर अपना जीवन व्यतीत करने लगीं। उनके पिताजी अदालत में मुख्य क्लर्क थे।

पति-विसर्जन के पश्चात् उनके भग्न-हृदय को केवल उनके माता-पिता के अटूट स्नेह— आदर्शमयी शिक्षा ही ने धैर्य प्रदान किया—उनकी ससुराल का कोई भी सदस्य उनकी किसी भी वेदना का भागीदार न बन सका। संवत्—विक्रमी संवत् की दृष्टि से मोहकलालजी का देहावसान १९८० में हुआ—उनकी पत्नी का इसके छः माह पश्चात् और मझले का १९८१ ही में।

१९९२ विक्रमी की बात है यह कि बसन्तीलालजी की पत्नी ने अचानक ही बिस्तरा पकड़ लिया। उनका हृदय अपने पति के सम्पूर्ण अमानवीय-व्यवहारों से अत्यधिक ऊब गया और वे दिनों-दिन इसी घटाटोप के कारण अत्यधिक पीड़ित भी रहने लगीं। स्वभाव उनका भी एकदम स्पष्टवादी ही था। उचित बातों के लिए वे भी अपने पति से दो टूक बात करतीं—बात करने के अपराध ही में पति के द्वारा लोहे की बेंतों से पिटतीं ऐसी कि उनके समस्त शरीर ही पर हलदी छुपती। कभी वे बेंतों से पिटतीं—कभी हथौड़े से और कभी पत्थर—सरोता—लातों ही से। सम्पूर्ण जीवन ही पिटते-पिटते मोहनलालजी की बड़ी बहू भी अब अत्यधिक विद्रोहिन हो गईं थीं और न्याय के लिए—उचित मानवीय-न्याय के लिए अपने पति से बगावत भी करने लगीं थीं। कभी वे बुआजी का पक्ष लेकर आगे बढ़तीं, कभी अपने सौतेले देवरों ही का और कभी अपने पुत्र-पुत्री-दामाद ही का। घर की मालकिन कहलाने के बाद भी बड़ी बहू का जीवन नौकरानी से भी गया-बीता दृष्टिगोचर होता था। अपनी पत्नी की सम्पूर्ण जीवन ही उपेक्षा बसन्तीलालजी ने इसलिए की कि वे अपने मित्रों की महफिल में दूकान पर भाँग-गाँजा पीते थे और किया करते थे अय्याशी भी। यह बसन्तीलालजी की सम्पूर्ण तरुणाई ही का परिचय था। बड़ी बहू ने एक बार नहीं—अनेक बार अपने पति को राह पर लाने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सकी वह! जब उसकी असफलता बढ़ती ही गई, तो उसने सभी के समक्ष अपने पति के कुकर्मों का प्रचार-प्रसार

करना तेजी से प्रारम्भ कर दिया। बसन्तीलालजी ने जब अपनी पत्नी के यह हाल देखे तो उन्होंने उसे भी अपनी तिकड़म से, राह का कण्टक समझ शीघ्रातिशीघ्र ही अपने से दूर—बहुत दूर कर दिया। मतलब यह कि अपने मझले भाई की भाँति ही उसे भी अपने सास-ससुर के समीप स्वर्गलोक में पहुँचा दिया।

मोहकलालजी की नेत्र-विहीना दीदी—बसन्तीलालजी और उनके अन्य भाइयों ही की बुआ की अवस्था अब लगभग अस्सी वर्ष हो गई थी। यह भी अपनी नन्हीं अवस्था ही में विधवा हो गईं थीं और तभी से अपने भाई के ही समीप आ गईं थीं। भाई की मृत्यु के पश्चात् बसन्तीलालजी ने इनका भी कम अपमान नहीं किया। बुआजी का नित्य-नियम था यह कि वे प्रातः चार बजे उठतीं—स्नान कर पूजा करने, माला जपने बैठतीं ऐसी कि सूर्य के पूर्ण विकसित होने पर अपने आसन से उठतीं। सारे दिन या तो वे बच्चों ही के लालन-पालन में अपना समय व्यतीत करतीं—या गृहस्थी के मिर्च-मसाले कूटतीं, साग-सब्जी तोड़तीं—मतलब यह कि कुछ-न-कुछ करती ही रहतीं—रात्रि के बारह बजे तक। इन सभी का पारिश्रमिक उन्हें बसन्तीलालजी से मिलता केवल आठ आने माह हाथ-खर्च—दोनों समय रोटियाँ और वर्ष में दो पहिनने के लिए मोटी-मोटी धोतियाँ ही। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता कि उन्हें भी एक नहीं—अनेक बार बसन्तीलालजी की झिड़कियों का—पूँजीवादी ओछी झिड़कियों का शिकार बनना ही पड़ता। एक दिन, अचानक ही, सीढ़ियों पर से गिरने के कारण वे भी अत्यधिक अस्वस्थ हो गईं और परमधाम पहुँच गईं। उनकी मृत्यु का दुःख बसन्तीलालजी के अतिरिक्त परिवार के सभी व्यक्तियों को हुआ ही, परन्तु अधिक दुःख उनकी इकलौती पुत्री-दामाद ही को हुआ—जो कि बुलन्दशहर के समीप ही बसे कस्बे धतूरी में ही लम्बी अवधि से रहते थे। बुआजी की मृत्यु बड़ी बहू की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् हुई।

: ५ :

भाभी-बुआ की मृत्यु हुई और जीवन का रहा-सहा सहारा भी टूट गया। अब उसके जीवन में ऐसी अँधियारी छा गई थी—जिसका कि हटना मृत्यु-क्षण तक सम्भव नहीं था। भाभी-बुआ की मृत्यु हुई और जीवन अन्तिम बार बसन्तीलालजी की कारा से सदैव ही के लिए मुक्त हो गया—सम्पूर्ण जीवन ही न लौटने की विद्रोहात्मक-साध लिए हुए ही।

बसन्तीलालजी से मुक्ति पा जीवन अपने ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्र के समीप इन्दौर आ गया और उन्हीं के साथ-ही-साथ रहने भी लगा। राघवेन्द्रजी ही नहीं—उन्हीं की मूल प्रेरणा से उन्हीं की माँ से उत्पन्न होने वाले समस्त भाई भी परम-वैष्णव—राधा-कृष्ण के थे उपासक। न वे प्याज खाते थे—न लहसन ही और न माँस-मदिरा ही का उपयोग किया करते थे।

राघवेन्द्रजी का जीवन भी कम उपेक्षित नहीं था। पिताजी-माताजी के देहावसान के समय उनकी अवस्था तेरह वर्ष ही की थी। मृत्यु से पूर्व उनकी माताजी ने उनसे चाहा था यह वरदान कि 'तुम अपने समस्त भाइयों और मुझे लेकर बसन्तीलालजी के घर से कहीं दूर ही चले चलो—मैं मजदूरी कर तुम सभी का लालन-पालन कर लूँगी और आगामी जीवन सुख-शान्ति-पूर्वक ही व्यतीत होगा!'

राघवेन्द्र ने अपनी असहाय माँ की बात जानी–मानी–पहचानी, परन्तु वह नन्हीं अवस्था के थे इसीलिए ही और इसलिए भी कि कहीं बसन्तीलालजी उन पर और उनकी माँ, छोटे भाइयों पर कहीं कोई नवीन मुसीबत का नवीन पहाड़ ही न लाद दें—उनके दुःख के उस समय भागीदार न बन सके और जब माँ चल बसीं संखिया खाकर तो उनके हृदय पर ऐसा धक्का लगा कि वे फिर बसन्तीलालजी के समीप नहीं रहे। घर छोड़ कर जाने के बाद राघवेन्द्रजी भी कई वर्षों तक अपने चाचा मस्तीलालजी के समीप ही रहे। जब उनकी अवस्था विवाह योग्य हुई तो अचानक ही बसन्तीलालजी और उनके एकमात्र दामाद रसिकबहादुर ने उनकी अच्छी-भली हालत होने पर भी उनके पैरों में दुनिया एकत्रित कर लोहे की बेड़ियाँ डाल दीं—एक ही क्षण में—उन्हें पागल सिद्ध करने के लिए ही। सच में राघवेन्द्रजी पागल नहीं थे—वे तो थे महान् साहित्यिक-संगीतज्ञ-उर्दू-हिन्दी-ब्रजभाषा के सुकवि। कुछ समय तक तो वे बसन्तीलालजी के यहाँ एक कमरे में खूँटी ही से बाँधकर रखे गए और बाद में उन्हें पूर्ण पागल सिद्ध कर इन्दौर के पागलखाने में भिजवा दिया, जहाँ कि वे लगभग आठ–नौ वर्षों तक रहे। मतलब यह कि पागलों के साथ रहकर भले-चंगे राघवेन्द्रजी भी निरन्तर ही बिगड़ी मनोदशा के मानव बना दिये गए। पागलखाने से छूटने के बाद राघवेन्द्रजी इन्दौर ही बस गए और एक मील के कार्यालय में कार्य भी करने लगे—केवल साठ रुपये मास पर ही। राघवेन्द्रजी के इन्दौर का कार्य-क्रम था यह कि वे प्रातः शीघ्र ही उठते—उठ कर रात्रि के बर्तन माँजते—शौच जाते—स्नान करते—लगभग ढाई-तीन घन्टे श्री ठाकुरजी का पूजन करते—बाद को भोजन बनाते और भोजन कर लगभग ग्यारह बजे मील चले जाते। संध्या के लगभग पाँच बजे लौटते वे, चाय बनाते–पीते–पिलाते—अध्ययन करते और फिर शयन के दर्शन करने मन्दिर चले जाते। मन्दिर से जब वे लौटते तो उनका सन्ध्या के छः से दस-ग्यारह बजे तक का सम्पूर्ण समय उन्हीं के द्वारा स्थापित, उन्हीं के वैष्णव–मण्डली के

मीत-बन्धु गोवर्धन भाई, लीलू भाई, विट्ठल भाई, कुम्भन भाई, गिरधर भाई इत्यादि गुजराती भाइयों ही में—कीर्तन ही में व्यतीत हो जाता। इस मण्डली से उठकर वे घर आते और प्रातः का बनाया हुआ भोजन जो रखा होता—उसे खाकर फिर सो जाते। मील से आने के बाद का अत्यधिक समय उनका वैष्णव-मन्दिरों ही में व्यतीत होता। कीर्तनियाँ वे श्रेष्ठ ही थे।

जीवन को अपने इन भाई के प्रति अत्यधिक आस्था उसी दिन से हो गई थी—जिस दिन कि उसने प्रथम बार अपने घर से भाग जाने पर, दिल्ली से प्रकाशित एक दैनिक-पत्र में, रतलाम में इन्हीं के द्वारा अपने लिए भेजा हुआ विज्ञापन पढ़ा था। भाभी-बुआ की मृत्यु के पश्चात् जीवन के एक मात्र कर्णधार बने राघवेन्द्र ही। वे उसे अत्यधिक स्नेह से अपने समीप रखते—उसके लिए भोजन बनाते—प्रथम उसे खिलाते—बाद में स्वयं खाते। उनकी हार्दिक इच्छा जीवन को पढ़ाने ही की थी परन्तु आर्थिक-अभाव ही के कारण और समस्त कुटुम्बियों द्वारा उसके प्रति हेय-दृष्टिकोण पाकर साथ न होने पर भी उन्होंने उसे कई महानुभावों के कहने से आठ रुपये माह पर कपड़े की एक सहकारी संस्था में नौकर करा दिया। जीवन ने यह नौकरी अपने ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्रजी की आर्थिक-स्थिति देखते हुए भी की और इसलिए भी की कि उसके राघवेन्द्र दादा तो उसे पढ़ाना चाहते हैं—परन्तु अवनीश दादा और अन्य समस्त पारिवारिक कहते हैं कि 'उसका मन पढ़ने में लगता ही नहीं—वह तो उजड्ड है—गँवार-मूर्ख'—इसलिए भी।

कहलाने वाले विद्यालय—महा-विद्यालय—विश्व-विद्यालय में अपने पढ़ने-लिखने—पढ़-लिखकर उपाधियाँ प्राप्त न करने का उसे तनिक भी खेद नहीं—इसलिए कि वह तो बचपन ही से दृष्टि-अध्ययन—मातृ-भाषा-अध्ययन—हृदय-अध्ययन—संगीत-अध्ययन—और सदैव क्षण-प्रतिक्षण ही अंतरंग—बहिरंग एक देखने का अभ्यासी ही रहा है—रहेगा भी—अन्त तक रहना उसे है। ऐसे रहने में ही उसे असीम—सुख—शान्ति मिलती है—मिलेगी भी!

: ६ :

एक बार इस बात का निरीक्षण-परीक्षण करना भी आवश्यक ही है कि इस समय मुन्शी मोहकलालजी के समस्त कुटुम्ब के सदस्य कितने हैं और वे कहाँ-कहाँ रहते हैं। जीवन राघवेन्द्र के समीप है ही। पिताजी की जन्म-भूमि में चाचाजी-चाचीजी का देहान्त भी पुत्र-पुत्री के वियोग में हो ही गया। वहाँ एक अन्य विधवा चाची और चचेरे भाई, उनकी पत्नी-बच्चों के अतिरिक्त कोई नहीं है। मन्दिर में पुजारी के अतिरिक्त परिवार का एक भी सदस्य घन्टे-घड़ियाल बजाने वाला तक नहीं है। मन्दिर में बैठी हुई मूर्तियाँ मन्दिर के पूर्व-निर्माता की महानता पर और वर्तमान-संचालक बसन्तीलालजी की उनके प्रति भी धूर्तता पर मन-ही-मन भीषण क्षोभ कर रही हैं— उनके चेहरे पर मुस्कराहट नहीं—है विद्रोह ही—अपनी उपेक्षा के कारण ही।

मझली बहू अभी भी मथुरा ही हैं—प्रधान अध्यापिका। बालिकाओं को पढ़ाती हैं वे और सारा दिन अपनी साथिन दमयन्ती बहिनजी के साथ-ही-साथ पूजन-पाठ, दर्शन-अर्चन ही में व्यतीत करती रहती हैं। हाँ, इस बीच उनके माता-पिता का देहावसान भी हो गया।

बसन्तीलालजी से अवस्था में बड़ी बहिन—मुन्शी मोहकलालजी की प्रथम सन्तान—ज्ञान देवी—जिनका कि विवाह अलीगढ़ के ख्याति-

प्राप्त एक वकील महोदय से हुआ था—हैं अभी भी। वकील साहब का भी देहावसान अपनी एक परम-प्रिय पुत्री रूपवती की मृत्यु के दुखद वियोग ही में वर्षों पूर्व हो गया। उनके परिवार में उनकी पत्नी-दो पुत्रियाँ–एक पुत्र हैं सुरक्षित ही। एक पुत्री का विवाह हो गया—दूसरी पुत्री की अवस्था चालीस से कम नहीं। दहेज-प्रथा कायस्थों की ने उसे अभी तक गृहस्थी-जीवन में पदार्पण करने से वंचित ही रखा।

वसन्तीलालजी के समीप इस समय अवनीश, श्रीपाल—घर में मिसराइन—काम वाली, दूकान पर एक नौकर—हैं यही सब। गुणवती वसन्तीलालजी की प्रथम पुत्री है—जो कि स्थानीय वकील रसिकबहादुरजी को विवाही गई है।

श्रीपाल गुणवती का छोटा भाई है—जिसकी कि अवस्था जीवन से तीन वर्ष अधिक—अवनीश से तीन वर्ष छोटी ही है। अवनीश का परिचय आप अभी से पूर्व पा ही चुके हैं। अवनीश और श्रीपाल साथ-ही-साथ पढ़ते हैं—लिखते हैं और दूकान का समस्त कार्य भी करते हैं। मेट्रिक तक दोनों ने साथ-ही-साथ अध्ययन किया—किन्तु बाद में दोनों की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हो चुकीं थीं। वसन्तीलालजी अपने पुत्र श्रीपाल की पढ़ाई-लिखाई में तो चाँदी को बाँदी बनाने के लिए सदैव ही उत्सुक थे, परन्तु उन्होंने अवनीश से स्पष्ट कह दिया कि—'मेरी स्थिति ऐसी नहीं कि मैं तुम्हें अब पढ़ा सकूँ। यदि तुम पढ़ना ही चाहो—तो अपनी व्यवस्था आप ही करो—मैं जिम्मेवार नहीं!' अवनीश इस आदेश को पाने के बाद पन्द्रह रुपये माहवार पर अध्यापक हो गए—वह भी अपने पिता ही की राह के राहगीर बन चले। उनने अध्यापन भी किया—वसन्तीलालजी के मकान—दूकान का निरन्तर कार्य भी और साथ-ही-साथ अध्ययन भी।

अवनीश और श्रीपाल के विवाह भी दोनों ही के बी० ए० होने के पश्चात् कायस्थी-दहेज-प्रथा के व्यापारिक-ढंग-रंग लिए हुए ही—हजारों की थैली सहित, पूंजी-परिवारों में सम्पन्न हो गए । अवनीश का विवाह परम वैष्णव—धर्मनिष्ठ एक वकील महोदय की कन्या से हुआ और श्रीपाल का विवाह एक ऐसे महाशय की पुत्री से—जो कि उर्दू के अच्छे शायर, शराब-गोश्त के ही हैं उपासक। मजा यह है कि अवनीश और श्रीपाल दोनों ही के विवाह हो गए पर इन दोनों से अवस्था में बड़े राघवेन्द्रजी इकत्तीस वर्ष के हो जाने पर भी अविवाहित ही थे—वसन्तीलालजी की कुटिलता के कारण और अवनीश के उनसे पूर्व ही विवाह अपना कर लेने के कारण ही । केवल लिए ही लिए नहीं—अवनीश और श्रीपाल के विवाहों में पूँजी-आशिक वसन्तीलालजी ने मुक्त-हस्त से खर्च भी किए—बहुत बड़ा पण्डाल बनवा कर—उसमें भव्य रोशनी लगवा कर—भाँति-भाँति के बाजे बजवा कर—सवारियाँ निकलवा कर—एक नहीं—हजारों आदमियों को एक दिन नहीं—निरन्तर तीन दिन तक भाँति-भाँति के पकवान खिलवाकर । यह सब-कुछ उन्होंने केवल अवनीश के लिए नहीं किया—किया एकमात्र अपने लाड़ले पुत्र श्रीपाल के लिए ही। सच तो यह है कि श्रीपाल के साथ-साथ अवनीश का विवाह भी कर दिया गया । अवनीश और श्रीपाल अपनी पूंजीपति ससुरालों को पाकर स्वयं भी पूंजीवादी स्वरों में गुनगुनाने लगे हैं अपने नवीन स्वर। दोनों की पत्नियाँ दोनों की भाँति ही लम्बी-लम्बी पूंजीवादी बातें बनाने—मटकाने वाली ही थीं। अवनीश की पत्नी अवनीश से कहतीं—'जितने रुपये माह आप पाते हैं—उतने रुपये महावार का तो मेरे बाबूजी (पिताजी) के बाग का माली है !' राघवेन्द्र—जीवन की भाँति ही अवनीश ने भी वसन्तीलालजी के यहाँ कम उपेक्षा नहीं पाई थी। पूंजी से वे घृणा करते थे, फिर भी उनका जीवन अपनी पत्नी की

पूंजीवादी प्रवृत्ति के कारण दुखी रहता था—इसलिए कि विवाह के कुछ दिनों बाद ही बसन्तीलालजी ने उन्हें भी घर से अलग कर दिया। यह कहावत ठीक ही है कि—'चरसी भाई किसके, कि दम लगाए खिसके।' बसन्तीलालजी को अवनीश की शादी का श्रेय और उनकी ससुराल से आया हुआ सम्पूर्ण दहेज पाना-हथियाना था—वे उसे अब पा चुके थे। अवनीश हारे नहीं थे—पत्नी का अपमान सहते—बसन्तीलालजी का—श्रीपाल ही का। श्रीपाल छोटा होने पर भी सदैव ही अवनीश को हेय-दृष्टि ही से देखता। एक-दूसरे से एक-दूसरे की नहीं बनती—इसलिए कि दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकृति ही के थे।

श्रीपाल की पत्नी श्रीपाल से कहतीं—'आपके यहाँ तो आनन्द है ही—किन्तु मेरे यहाँ भी आप देख आए हैं—कम आनन्द नहीं। पापाजी से सभी इतने प्रसन्न हैं कि रईसों में उनकी अत्यधिक धाक है—जिसे कि आप भी प्रत्यक्ष देख ही आए हैं!'

: ७ :

जन्म ही से नहीं—माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाली पारिवारिक-उपेक्षा का परिणाम निकला यह कि राघवेन्द्रजी की मनोदशा अवनीश—श्रीपाल के विवाह के बाद ही अत्यधिक विचारणीय हो गई। उन्होंने इन्दौर से अपनी नौकरी छोड़ दी और मिल में जमा अपने तीन सौ रुपये लेकर वे सीधे मथुरा पहुँचे। मथुरा पहुँच कर तीन सौ रुपये उन्होंने एक ही क्षण में श्री द्वारकाधीष के पट खुलते ही मन्दिर में न्योछावर-स्वरूप अर्पित कर दिए। जब मनोदशा अधिक बिगड़ गई और पास कुछ भी खर्च नहीं रहा तो वे जिनसे जीवन भर खुलकर विद्रोह किया—अपने उन्हीं विरोधी सौतेले भाई बसन्तीलालजी ही की कारा में आ गए—बिना बुलाए ही। जीवन एकाकी—सदैव-सा एकाकी इन्दौर ही था। अब वह अपनी ही रुचि से कपड़े की सहकारी संस्था से नौकरी छोड़ प्रेस-व्यवस्थापक हो गया था—इसलिए कि पूंजी समीप न होने पर भी वह अपने पिताजी—स्वर्गीय पिताजी के पद-चिह्नों ही पर चलना-जलना-गलना-ढलना चाहता था—उन्हीं के सम्मानार्थ ही।

जब राघवेन्द्र ने इन्दौर छोड़ा तो जीवन उनके चरणों में गिर कर सिसक-सिसक रोया और बोला कि—'मुझ अनाथ के लिए आपकी छत्र-छाया बहुत बड़ी धरोहर है—मुझे छोड़कर कृपया कहीं न

जाइयेगा—मैं स्वयं मजदूरी कर आपकी—अपनी जीवन-व्यवस्था कर लूँगा।' राघवेन्द्रजी का स्वास्थ्य—मन—आत्मा इतनी पीड़ित थी कि वे अपने जन्म-जात दुखी—अनाथ सबसे छोटे भाई की सरल-सरल भावुकता को विद्वान—सहृदय होते हुए भी जान-मान-पहचान न सके और अपनी इच्छानुसार चल पड़े—निज दिशा की ओर ही। जीवन को जब अपने भाई राघवेन्द्र—अवनीश की याद अत्यधिक आती—सताती, तो वह अपने मान-अपमान की चिन्ता न कर बसन्तीलालजी के यहाँ उनसे मिलने कभी-कभी पहुँच जाता। पहुँचने पर वहाँ देखता वह कि राघवेन्द्र सभी की उपेक्षा का पात्र ही बना हुआ था। एक कमरे में वह राघवेन्द्रजी के एक नहीं—सैकड़ों स्थानों से फटी हुई और उसी को बार-बार सीते हुए धोती को देखता और यह भी देखता कि कोई उन्हें मारता है—कोई डपटता है—कोई कहता है कि 'तुम पुनः पागल हो गए हो'—इत्यादि। अवनीश भी उनका कम अपमान नहीं करते। स्वयं बड़े भाई की भाँति सुकवि-सुलेखक-सु-समालोचक होने पर भी वे अपनी भाषा के संयम को तोड़ राघवेन्द्र से कहते—वह भी उनके भोजन करते समय ही—'हराम का खाते हो और सारे दिन घर में पड़े रहते हो—शर्म नहीं आती है' और राघवेन्द्र अपने अनुज का कर्कश-व्यर्थवादी-बकवादी भाषण सुनकर परसी हुई थाली में से निवाला तोड़ते-तोड़ते विद्रोही बन चीखते-चिल्लाते उठ जाते और कहते अवनीश से—'इस प्रकार के अपमान की तुम से मैंने स्वप्न में भी आशा नहीं की थी। तुम तो बसन्तीलालजी से भी दस कदम आगे निकले। मालूम होता है कि मानो मेरे लिए दो रोटियों की व्यवस्था भी तुम्हें ही करनी पड़ती हो!' जीवन अपने ही सगे भाई से अपने ही सबसे बड़े भाई का अपमान होते देखकर सहसा ही काँप उठता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों के हृदय का द्वन्द्वात्मक निरीक्षण-परीक्षण किया करता। वह बहुत

चाहता कि राघवेन्द्र दादा पुनः उसके साथ बसन्तीलालजी और अवनीश का साथ छोड़ इन्दौर चले चलें, परन्तु जब वे चलने को तैयार न होते, तो उसका मन उन्हीं की चिन्ताओं में अत्यधिक व्यस्त रहता—त्रस्त रहता। इन्दौर से राघवेन्द्र के आने के बाद, बसन्तीलालजी का घर छोड़ देने पर और फिर उनकी सीढ़ी पर पुनः न चढ़ने की मार्मिक साध रखने पर भी, जीवन राघवेन्द्र दादा को अपने साथ ले जाने की कामनाएँ--भावनाएँ लिए कई बार आता पर उन्हीं के हठ के कारण उन्हें अपने साथ न ले जा पाता। उसे इस बार पूर्ण विश्वास हो गया था कि सभी की भाँति बसन्तीलालजी के यहाँ से उसके राघवेन्द्र दादा का जनाज़ा भी शीघ्रातिशीघ्र ही निकाल दिया जाएगा। अवनीश राघवेन्द्र का अपमान क्यों करते हैं—इस विषय का निष्कर्ष भी वह यही निकाल पाया कि अवनीश की दृष्टि में महाविद्यालयों में पढ़कर—उपाधियाँ प्राप्त कर अपने को राघवेन्द्र और अपने स्वर्गीय पिता से भी ज्ञान में अधिक समझना ही है। बसन्तीलालजी परिवार के कई सदस्यों की हत्या कर समेटी हुई पूंजी का दम्भ करते थे और अवनीश अपने केवल बी० ए०, विशारद हो जाने ही का। जीवन राघवेन्द्र दादा की श्रद्धा बचपन ही से इसीलिए करता था कि वे सर्व-गुण सम्पन्न होने पर भी कभी किसी के समक्ष दम्भ के खम्भ स्थापित नहीं किया करते थे—उन्हें कॉलेजियन-छोकरों की भाँति व्यर्थ ही की बातें बनाना—और उन्हीं-सा निशाना लगाना स्वप्न में भी नहीं आता था। जीवन कभी उन्हीं के निमित्त बसन्ती-निवास पर आता—एक-दो दिन ठहरता तो देखता कि राघवेन्द्र दादा उसके अतिरिक्त घर में किसी से बात-चीत करना भी पसन्द नहीं करते। घर के अतिरिक्त वे कहीं जाते भी, तो इन्दौर की भाँति मन्दिर ही और बालापन के सजातीय साथी मदनगोपालजी के यहाँ ही। मदन-गोपालजी का परिवार भी कायस्थ होते हुए भी परम वैष्णव ही था

और इसी परिवार को राघवेन्द्र, अवनीश, जीवन को पूर्णरूपेण वैष्णव बनाने का श्रेय भी था। तीनों ही भाई बचपन ही से इस परिवार में आते-जाते और उसे अपना—एकदम अपना ही समझ अपनी सारी कथा—व्यथा वहाँ कह आते। मदनगोपालजी की माताजी को तीनों ही भाई अपनी मौसी कहते और उन्हें उसी श्रद्धा से देखते भी। मौसी के दुलार में उन्हें अपनी माँ का दुलार मिलता। बसन्तीलालजी को तो अपने तीनों ही भाइयों का कहलाने वाली मौसी के समीप आना—जाना—छाना लगा करता अप्रिय सदा ही। उनके यहाँ उनके भाई न जा पाएँ इसीलिए वे मौसी के प्रति पतित विचारों को प्रसारित करते सदैव ही। मौसी को राघवेन्द्र—अवनीश—जीवन मौसी इसीलिए कहते कि वह मदनगोपालजी की मौसी भी थीं और सौतेली माँ भी। मदनगोपालजी के पिताजी काफी वयोवृद्ध हो चुके थे और एक गाँव में थानेदार थे। मौसी से उत्पन्न होने वाली सन्तानें थीं एक लड़की और दो लड़के। सारे परिवार में सबसे अधिक मौसी ही का स्वभाव विशालता लिए हुए था। उनकी पुत्री दुर्गा भी अपनी माँ की भाँति ही विशाल हृदय लिए हुए ही थी। माँ—बेटी दोनों ही असीम भावुक; सहृदय, सदैव ही ईश्वर-भक्ति में व्यस्त और कला-मर्मी ही थीं। दुर्गा ने राघवेन्द्र—अवनीश—जीवन को राखी बाँधी थी और इसी नाते वह उनकी वह बहन थी— जिसे कि तीनों ही भाई अत्यधिक स्नेह ही किया करते थे। थी वह तीनों से छोटी ही और विवाही थी एक डाक्टर महोदय ही को—जो कि सभी का इलाज करते थे, किन्तु अपनी भाव-भाषा से भोली पत्नी को निरन्तर अस्वस्थ्य ही किया करते थे— कायस्थी-बेहूदे उतार—चढ़ाव लिए हुए ही। दुर्गा के छोटे भाइयों के नाम भूषण—किशन ही थे—जो कि अपनी माँ—बहिन के समान भावनावादी-साहित्यिक ही थे।

जीवन राघवेन्द्र दादा की उस स्थिति को भी नहीं भूल पाता है—जब कि वे इन्दौर-जीवन से पूर्व एक गाँव में बारह रुपये माह ही के अध्यापक थे और गाँव—अध्यक्ष के यहाँ संगीत—शास्त्रीय संगीत के आचार्य भी। जीवन की दृष्टि में राघवेन्द्रजी की मस्ती-हस्ती-बस्ती तब अधिक सुरक्षित थी—आज-सी विषमता उसमें थी ही नहीं। यह अभी तक कहा ही नहीं जा सका कि जीवन ने राघवेन्द्र के साथ-ही-साथ गाँव में भी कुछ समय व्यतीत किया था—अपने दादा के आकर्षण के कारण ही और स्वयं भी सुख-शान्ति पाने के लिए ही।

: ८ :

जीवन का अनुमान राघवेन्द्रजी के प्रति सवा सोलह आने सत्य ही निकला। उनके इन्दौर से बसन्ती-निवास में पहुँचने के आठ माह पश्चात् ही उनका देहावसान सभी की उपेक्षा को सहते-सहते हैजे ही में हो गया। जीवन को उनके देहावसान का समाचार अधिक दूर न होने पर भी दो दिन पश्चात् ही प्राप्त हुआ। इस समाचार को पाकर उसका रहा-सहा धैर्य भी क्षण ही में टूट गया—उसे फिर कोई जोड़ न पाया—अपने हृद्-टाँकों से। इस वेदना का धक्का लगा उसे ऐसा कि उसने प्रेस से नौकरी छोड़ दी—वह समस्त वेदना को भुलाने के लिए नशे करने लगा और निरन्तर अपने राघवेन्द्र दादा की सुमधुर याद लिए हुए प्रवास भी। परिवार के समस्त सदस्यों से अब उसे घृणा हो चली थी, फिर भी वह भावुकता-वश, स्वार्थ न होने पर भी अवनीश दादा और अपनी भाभी के समक्ष कभी-कभी पहुँच ही जाया करता था। जाता वह अवश्य था—पर देखता वह कि उन दोनों के 'कोष' में भी पूँजी ही का महत्व अधिक था—मानवतावाद का नहीं। वर्ष में दस-बीस-रुपये की मदद कर देने के पश्चात् अवनीश समझने लगते कि मेरे भ्रातृ-स्नेह का कार्य-भार सम्पूर्ण हो चुका है। इससे अधिक वे जीवन के लिए कुछ भी न कर सके—इसलिए कि जीवन मुझसे अधिक योग्य न बन जाए—सदैव मेरे ही मातहत कहलाए। दस-

बीस रुपयों की मदद वह जीवन को इसलिए करते कि मनिआर्डर-रसीद आने पर वे समाज को यह बतला सकें कि मैं जीवन के लिए कितना त्याग किया करता हूँ ! अवनीश में अपने अनुज के प्रति यह विशेष परिवर्तन अपने विवाह के पश्चात् ही आया—अन्यथा एक वह भी दिन था—जब कि जीवन के आर्य-समाज-द्वारा होने वाले हैदराबाद-सत्याग्रह में भाग कर भर्ती हो जाने पर अवनीश अपनी आर्थिक-स्थिति मजबूत न होने पर भी अनमना-सा उसे खोजने के लिए चल पड़ा था और तब तक नहीं लौटा था—जब तक कि उसने उसे पा न लिया था । जीवन सत्याग्रह में इसलिए चला गया था कि न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी और अवनीश उसे तब इसलिए ले आया था कि उसके अन्तःकरण में उस समय अपने अनुज के लिए दर्द था—जो कि अधिक सर्द था—मर्द भी !

... ...

राघवेन्द्र की मृत्यु हुए लगभग नौ वर्ष व्यतीत हो गए। इस अवधि में जीवन इन्दौर छोड़ बम्बई, दिल्ली, चम्बा, लखनऊ, मथुरा, आगरा, कानपुर, मेरठ, गोरखपुर, शिमला, बदायूँ, हाथरस रहा—मजदूरी के कारण ही और इसलिए भी कि वह बन गया था प्रवासी ही—वह प्रवासी—जिसे कि अन्त तक स्वयं ही जलना था, पर प्रतिक्षण फिर भी चलना था। हाँ, जीवन-यापन के लिए वह शिमला के एक साप्ताहिक का सम्पादक है इन दिनों ।

अवनीश अब एम० ए० हो गए हैं और एक विद्यालय—महाविद्यालय में हिन्दी के आचार्य भी—दो सौ रुपये माह पर ही । इन नौ वर्षों में भी अभी तक उनकी कोई सन्तान नहीं हुई है । अलग-अलग रहने के बाद भी जीवन सोचता—'ईश्वर ! अवनीश भय्या को सन्तान दे—जिसे पाकर कि हम सभी हरषें-सरसें'—और अवनीश

कई बार जीवन को पत्रों में लिखते—प्रत्यक्ष मिलन पर कहते कि 'काश ! तुम्हारी शादी मेरे ही जीवन में हो जाए—और मैं तुम्हें युद्ध से दो देख लूँ !' दोनों के प्रति दोनों के इस दृष्टिकोण को स्थापित हुए नौ वर्ष व्यतीत हो गए, परन्तु दोनों में से एक की भावना-पूर्ति भी अभी तक हो न सकी है।

श्रीपाल की प्रथम पत्नी का दुखद देहावसान भी उसी के पति की भीषण उपेक्षाओं को सहते-सहते ही हो गया। वर्षों तक तो लाखों की वसीयत होने पर भी बसन्तीलालजी को—अपने ही से अधिक नशेबाज–क्रोधी पुत्र के लिए दूसरी दुलहिन तक प्राप्त न हो सकी—प्रतीक्षा के बाद भी। अन्त में बड़ी कठिनाइयों से उसका दूसरा विवाह दूर के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। अब तो श्रीपाल की दूसरी दुलहिन से एक कन्या भी उत्पन्न हो गई थी।

बसन्तीलालजी ने अपने पुत्र की प्रथम बहू के देहान्त के बाद अपने ही पुत्र का द्वितीय विवाह तो कर दिया, परन्तु वे अपने ही पिता की अन्तिम अविवाहित सन्तान जीवन के विषय में कभी भूलकर स्वप्न में भी आज तक विचार न कर सके। दिखलाने-बतलाने को वह दुनिया से कहते हैं—'लड़का (जीवन) है ही आवारा—मैं उसके लिए कुछ करूँ भी तो आखिर किस आस-विश्वास-उसाँस ही पर ?'

... ...

स्वर्गीय मझले भय्या से अवस्था में तनिक छोटे, दूसरी माँ से उत्पन्न होने वाले एक भाई और थे—हरिचरणजी—जिनका कि दुखद देहावसान युवा अवस्था ही में, मुंशी मोहकलालजी के जीवनकाल ही में हो गया था। सच पूछो तो अपने पुत्र हरिचरण की मृत्यु का भीषण प्रहार अपने ही ऊपर सहसा ही पड़ जाने के कारण ही मोहकलालजी भी बिस्तरे पर अचानक पड़े ऐसे कि फिर न कभी वे उठ पाए

ही—अपने ही स्नेही पुत्र के समीप ही कुछ समय पश्चात् वे भी पहुँच ही गए—सभी को अनाथ बना कर ही।

तीसरी माँ से जन्म पाने वाला एक भाई और था—रमेश—अवनीश से अवस्था में तीन वर्ष छोटा और जीवन से तीन वर्ष बड़ा ही। उसकी मृत्यु भी बसन्तीलालजी ही के समीप आठ वर्ष की अवस्था ही में हो गई। इसकी वेदना भी परिवार के कई सदस्यों को हुई ही।

... ...

हाँ, जीवन-अवनीश के नाना-नानी, दो मामा-माई भी थे ही। दुर्भाग्य था यह कि यह सभी थे अवश्य—पर इनमें से एक भी अवनीश-जीवन-राघवेन्द्र की असहाय स्वर्गीया माँ को, उसकी लाख प्रार्थनाएँ करने के बाद भी, उसके जीवनकाल में ही—बसन्तीलालजी की कारा से उसे मुक्त न करा पाए और न उसके समस्त बच्चों ही को। यदि पति के देहावसान के बाद शीघ्रातिशीघ्र ही, उसके माता-पिता-भाई-बहन-भाभी उसकी इज्जत को सुरक्षित रख पाते, तो वह दीन-दुखिया अपने चार नन्हें बच्चों को सहसा क्षण ही में अनाथ बना, संखिया खाकर आखिर मरती ही क्यों ? उसकी कभी न भूलने वाली मृत्यु का मूल कारण उसके माता-पिता, भाई-भाभी-बहिन की उसके लिए की जाने वाली उपेक्षा ही है। कायस्थ-जाति का यह अनोखा रंग-ढंग है कि कन्या का विवाह कर देने के बाद, उसके कई स्वार्थी माता-पिता-भाई-भाभी उस पर क्षण-प्रतिक्षण ही मृत्यु मँडराने के पश्चात् भी, उसकी ओर कभी झाँकते-झाँकते तक नहीं—केवल इसीलिए कि कहीं लड़की की ससुराल अब और नवीन माँगों द्वारा हमें आर्थिक-उलझनों में न डाल दे।

जीवन-अवनीश के नाना-नानी की अवस्था इस समय पचहत्तर-अस्सी से कम नहीं। बड़े मामा भी अवस्था में पचपन से कम नहीं।

छोटे मामा की अवस्था बड़े मामा से लगभग पाँच वर्ष छोटी होगी। दोनों ही अलग-अलग शहरों में पोस्ट मास्टर थे। बड़े मामा पेन्शन लेकर एक गाँव में अपनी पत्नी सहित सुख-शान्ति से रहते हैं और दूसरे अभी भी अपनी पत्नी, दो पुत्र, एक पुत्री सहित एक स्थान पर पोस्ट मास्टर ही हैं। दोनों के माता-पिता दोनों से दूर, एक धार्मिक-स्थान में, किराये का मकान ले, लम्बी अवधि ही से रहते हैं। कभी-कभी बुलाने पर वे अपने दोनों पुत्रों के पास चले जाते हैं और लौटकर फिर अपने स्थायी-निवास पर आ जाते हैं—किसी के पास भी जमकर-थमकर रहना वे जानते ही नहीं—न मानते ही हैं। सभी का कार्य अलग-अलग अपने-अपने चौकों में गोश्त-कबाब खाना—शराब पीना-पिलाना—भाँति-भाँति की बातें बनाना—सुनाना और फिर अपने-अपने रंग जमाना ही है। दोनों ही मामा बी० ए०—एम० ए० न होने के बाद भी साहित्य-संगीत इत्यादि कलाओं के मर्मी-कर्मी भी हैं। दोनों ही की प्रथम पत्नियों के देहावसान हो चुके हैं और दूसरी पत्नियाँ विराजमान हैं। स्वभाव एक-दूसरे भाई का नहीं मिलता था—दोनों की गतियाँ-मतियाँ ही भिन्न-भिन्न थीं। बड़े के कोई सन्तान नहीं थी-फिर भी वे अपनी आय का कुछ भाग कभी माता-पिता को कराई हुई चारों धाम की यात्रा में खर्च करते—कभी उन्हें भेजते और कभी अन्य पारिवारिकों ही को। शेष भाग सारे दिन परिश्रम करने और उसके बाद खा-पीकर मस्त रहने ही में व्यय होता था। छोटे मामा का खर्च अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और अत्यधिक इलाज—खान-पान-तान-गान ही में व्यय होता। उनके ज्येष्ठ पुत्र का शुभ विवाह हो चुका था और वह राशन-विभाग में नौकर भी हो गया था—अस्सी रुपये माहवार पर। मझला पुत्र चला गया था—नन्हीं अवस्था का होने पर भी बेंगलोर और भर्ती हो गया था—भारतीय-फौज ही में। सबसे छोटा पुत्र अभी पढ़ता ही था और अपने माता-पिता-बहिन

के समीप ही रहता था। छोटी पुत्री समीप रह कर ही पढ़ती थी और बड़ी का दुखद देहावसान उसकी अविवाहिता अवस्था ही में अभी-अभी कुछ समय पूर्व ही हो गया था। बड़ी पुत्री अपने बाबा-दादी की अत्यधिक लाड़िली थी और वही मृत्यु से पूर्व तक उन्हीं के समीप रह कर, उन्हीं की सेवा किया करती थी—पढ़ती थी—लिखती थी। नानाजी की आर्थिक-स्थिति सदैव ही से थी यह कि वह कचहरी में पच्चीस रुपये माह के मुन्शी रह चुके थे और अभी भी पेन्शन का आधा भाग—साढ़े बारह रुपये प्रति माह पाते थे, सभी कुछ पीते-खाते थे और फिर रामायणजी—सुखसागर—प्रेमसागर—गीता का पाठ नित्य ही पढ़ते-पढ़ाते थे—साथ ही अपनी पत्नी को भी सुनाते थे। नानी-नाना रहते भी उसी शहर ही में थे—जहाँ कि ख़ैरातीलालजी—अवनीश अलग-अलग मकान लेकर अपने-अपने कार्य किया करते थे। जीवन सभी की शक्ल-अक्ल-नस्ल का निरीक्षण-परीक्षण करने राघवेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् कभी-कभी आ जाया करता और फिर कुछ दिनों बाद सदैव ही सा कहीं इधर-उधर—दूर-बहुत दूर केवल सरलतापूर्वक जीने की साध लिए हुए ही चला भी जाता। कभी वह कुछ समय दादा अवनीश के पास रहता - कभी बड़े मामाजी के समीप ही। अधिक वह कभी किसी के साथ इसलिए नहीं रहता था कि वह भूखा-प्यासा रह सकता था—कहीं किसी भी घाट-मरघट-मन्दिरों-स्टेशनों के 'प्लेट फार्मों' पर वर्षों सो सकता था—परन्तु किसी भी पारिवारिक-सदस्य और अपने कहलाने वाले भाँति-भाँति के मित्र-चित्र-विचित्र से प्राप्त उपेक्षा वह कभी भी झेल नहीं सकता था। उसका मन-तन सभी छिछले उपदेशकों-पारिवारिकों के प्रति घृणा ले बाग़ी हो उठता और शक्ति न होने पर भी निरन्तर ही बग़ावत करता—सत्य-असत्य की कटु आलोचना कर—वास्तविकता की पगडण्डी की ओर न्यायपूर्ण उचित निर्देश कर !

... ...

बसन्तीलालजी के एक मात्र दामाद रसिकबहादुर की रसिकता का कुपरिणाम निकला यह कि उन्होंने बसन्तीलालजी की कन्या गुणवती के गुणों का अवलोकन वर्षों तक कर लेने के बाद उसके जीवित होने पर भी अपना दूसरा विवाह अन्य जाति ही की एक रसिक—चिर-रसिक उस नारी ही से कर लिया है—जो कि इनके पूर्व भी अपने कई पति कर चुकी है—इच्छा होने पर छोड़ भी चुकी है। दूसरी पत्नी के अपने समीप आते ही रसिकबहादुर ने गुणवती को मार-पीट कर अपने घर से एक ही क्षण में निकाल दिया और फिर स्थायी न आने दिया कभी अपने समीप ही। गुणवती पति-द्वारा निर्वासित होने के बाद ही से अभी तक अपने पिताजी बसन्तीलाल ही के घर रहती है। रसिकबहादुर की अजातीय द्वितीय पत्नी अध्यापिका हैं और उसके दो पुत्र—एक कन्या हैं। मजा तो इस बात का है कि अखिल विश्व को मूर्ख बतलाने वाले और अपने आपको महान—जहान—गुणवान—धनवान—बलवान समझने वाले बसन्तीलालजी का सफेद चेहरा एक ही क्षण में काला उनके दामाद ही ने सभी के समक्ष कर दिया—उन्हीं की पुत्री का त्याग कर और इस पर भी ससुर-दामाद दोनों ही में अत्यधिक घनिष्ठता थी। घनिष्ठता होना दोनों की इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि दोनों ही का स्वभाव था एक ही सा और चाह—राह—आह—वाह भी एक ही सी शैतानियत-पूर्ण ही। गुणवती का दिल अपने पति की प्रीति-रीति-नीति से अब बिल्कुल ही टूट चुका था—इस पर भी वह अपने पिताजी ही के घर अपनी सौत के बच्चों को नौकर से बुलवाती और उन्हें बेशर्म की भाँति, नौकरानी ही की तरह खिलाती-पिलाती—एक दो दिन नहीं—निरन्तर ही। कभी-कभी उसके पति भी दिखलाने को उससे मिलने के लिए बसन्ती-निवास पर पहुँच जाते। हाँ, कई बार श्रीपाल और उसके बहनोई रसिकबहादुर के भी आपस में भयंकर झगड़े हो चुके हैं और फिर कुछ अवधि के बाद ही समझौते भी। पिता-पुत्र, पुत्री-

दामाद में कई बार भीषण झगड़े हो चुके हैं—होते रहते हैं और फिर सभी आपस में बेशर्मों की भाँति कुछ समय बाद ही मिलने-खिलने लगते हैं—युगों ही से। समाज इसी रूप में इन सभी को देख रहा है और इसलिए ही कभी-कभी वह यह भी कह ही उठता है—'जब कि इन पूंजीपतियों ने अपनी अस्मत की टोपियाँ ही अपने सिर से उतार कर फैंक दी हैं—तब इन्हें अब आखिर हम समझाएँ भी तो क्या, क्यों, क्योंकर ?' है यही कारण कि सभी बसन्तीलालजी, रसिकबहादुर, गुणवती, श्रीपाल के कर्मों का अवलोकन तो दूर ही से किया करते हैं—परन्तु समीप पहुँच कर उनमें से एक को भी कोई समझाने-बुझाने की साध कभी स्वप्न में भी रखता ही नहीं।

... ...

सम्पूर्ण कहानी ही अत्यधिक हृदय-द्रावक है और इसीलिए उसके एक अंश को भी भूल जाना सम्भव नहीं है। अवनीश—जीवन के स्वर्गीय चाचा मुन्शी मस्तीलालजी और उनकी स्वर्गीया श्रीमती चाची—जो कि उनकी सगी मौसी भी लगती थीं—के विषय में भी अब सूक्ष्म ही में कुछ तो बतलाना होगा ही। चाचाजी की मृत्यु से पूर्व बसन्तीलालजी ने उन्हीं की जन्म-भूमि में उत्तर प्रदेश इसीलिए ही रखा था कि वे गाँव की जमीन की खेती किसी किसान से करवाते रहें—उसी की तुच्छ आय से अपना-अपने परिवार का, मन्दिर का—उसके ही पुजारी का खर्च चलाते रहें। उन पर अन्त तक कितने ही कष्ट आए परन्तु बसन्तीलालजी ने अपनी पूंजी में से कभी कोई सहयोग नहीं दिया—सदैव ही उन्हें अपने मुनीम ही सा समझा। चाचाजी का ज्येष्ठ पुत्र महावीर भी अब जीवित नहीं—पर न भूला जा सकेगा यह कि अपने माता-पिता की आर्थिक-स्थिति को जब उसने गाँव में लड़खड़ाते हुए ही पाया—तो वह बसन्तीलालजी का चचेरा भाई होने पर भी, खाना—कपड़े—तीस रुपये माहवार पर उनके यहाँ,

उन्हीं की पुस्तक की दूकान पर जाकर वह कुछ समय के लिए नौकर हो गया था। कुछ समय कार्य कर लेने के बाद अपने पुत्र को चाचाजी ने अपने समीप गाँव ही बुला लिया था—इसलिए कि उसके बिना उनका और उनकी पत्नी का मन लग नहीं पाता था। चाचाजी अत्यधिक वृद्ध अवश्य हो गए थे, परन्तु वे बसन्तीलाल के कुटिल-जटिल, व्यवहारों को सह नहीं पाते थे—कभी-कभी तो उनका मुँहतोड़ जवाब वे उन्हें पत्रों में देते और कभी-कभी प्रत्यक्ष मिलन पर भी!

सहसा ही अपने पुत्र-पुत्री का युवा अवस्था ही में दीप बुझ जाने के कारण अब उन्हीं की वेदना में चाचाजी का जीवन-दीप भी पूर्व बताए अनुसार अत्यधिक टिमटिमाने लगा था और उसी का अवलोकन कर अच्छी-भली हालत होने पर भी, चाची अपनी ही बड़ी स्वर्गीया बहिन की भाँति अफीम खाकर, अपने पति के विसर्जन के छः दिन पूर्व ही परलोक सिधार गईं—अपनी ही बड़ी बहिन-बहनोई के समीप ही। इनका सहायक भी यदि इनके पीयर में कोई बन पाता, तो क्या इस प्रकार इनका भी दुखद अन्त होता? अपनी ही बहिन की भाँति यह भी बसन्तीलाल से अत्यधिक घृणा ही करती थीं और इसीलिए उन्होंने जीवित रहना—अत्याचार सहना तनिक भी उचित नहीं समझा।

: ९ :

अपनी नन्हीं अवस्था में ही, घर छोड़ने के पश्चात जीवन ने प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पुरातन पत्रिका 'सरस्वती' में श्रीमती तारा पाण्डेय का एक उच्च-भावनावादी गीत पढ़ा था:—

"स्वप्नों से मत करो दुलार !
कवि, जीवन का सत्य खोज लो,
करो न छाया का मनुहार !
स्वप्नों से मत करो दुलार !"

और इसे पढ़ने के बाद ही जीवन का कवि और मनुष्य दोनों ही इसी पथ का पथिक, इन्हीं भावनाओं का उपासक बन चला और चल पड़ा इन राह ही पर ! उसने कभी छाया का मनुहार नहीं किया—परन्तु सम्पूर्ण जीवन में अपने ही विचारों—ज्वारों—सारों को यथा समय ही तत्व-महत्व सहित समझने वाले एक दो मनुष्य भी उसके जीवन में अभी तक आ नहीं पाए—आ कर छा नहीं पाए—निज हृदय में औ' सलोने नयन ही में।

यह तो मनोविज्ञान—मानव-मनोविज्ञान कहता ही है कि अनाथ व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन ही किसी पुरुष और स्त्री की निर्मल—परमोज्ज्वल ममता को पाने के लिए सम्पूर्ण जीवन ही बावरा-सा रहता ही है। उसका वह बावरापन तब तक नहीं मिटता—जब तक

कि उसे मनचाही आत्माओं की प्राप्ति नहीं हो जाती । राघवेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् जीवन का अभी तक का जीवन भीषण मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव लिए हुए ही व्यतीत हुआ है । देश के भिन्न-भिन्न शहरों से उसकी कई पद्य-गद्य पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं—कई बार वह रेडियो, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, विद्यालय-महाविद्यालय में कविता-पाठ कर आया है और अब किसी भी मूल्य पर कहीं भी अपने स्वर अलापना उचित नहीं समझता—इसलिए कि उसे चारों ओर ही छाया से मनुहार करने वाला और स्वप्नों से क्षण-प्रतिक्षण ही दुलार करने वाला समाज ही मिल पाया इस धरा पर—साथ जिसका उसे न सुहाता ! उसकी मनोदशा अपनों ही के घात-प्रतिघातों से इतनी कई वर्षों से दयनीय हो गई है कि उसका स्वास्थ्य भी निरन्तर ही लड़खड़ाता हुआ ही दृष्टिगोचर होता है । यह सब-कुछ होने के बाद भी वह रुकता नहीं, साधना की राह ही चलता सदा ही !

अपने ही विवाह की चर्चा अपने ही मुँह से वह कभी इसलिए नहीं कर पाया कि उसे एक श्रेष्ठ-श्रद्धेय हिन्दी-साहित्यकार ही ने समझाया था यह कि—'यदि तुमने अपना विवाह नहीं किया—तो तुम्हारा जीवन अत्यधिक ऊँचा ही उठेगा—देश ही में नहीं—अखिल विश्व ही में !' और जीवन को अपने इन श्रद्धेय के इन सुविचारों पर अटूट आस्था हो गई और इसीलिए वह कहीं भी अपने विवाह की बात–वात–उत्पत्ति कभी होने ही नहीं देता । कोई कभी चर्चा छेड़ देता है कहीं तो कह उठता है वह यह कि—

'मेरी समझ में तो साधना–कामना–भावना के अतिरिक्त अन्त तक—एक क्षण के लिए भी मुझे कहीं शान्ति नहीं मिल सकती—मानव-समाज में । हाँ, मनभावन प्रकृति—और यदि मानव-स्वरूप से

आकर्षण हो ही जाए तो नन्हें-नन्हें बच्चों की सरलता–तरलता ही मुझे सुरक्षित रख पाती है—हृदय-कोष में ! यह बात नहीं है कि अविवाहित होने पर भी मैं नारी–हृदय–आशा–भाषा–परिभाषा का अवलोकन नहीं कर पाया हूँ अभी तक। मैं तो सभी से सदैव स्पष्ट ही कहता हूँ—सभी मेरे पारिवारिकों के कथनानुसार मैं तो शराबी–कबाबी–खानाबदोश–चरित्रहीन–आवारा हूँ ही। अपनी सफाई मैं स्वयं ही देना कभी उचित नहीं समझता—इसलिए कि मैं तो अपने ही सिद्धान्तों—संस्कृति का अवलोकन कर ही अपने कदम आगे बढ़ाता हूँ—मानव-हृदय-पगडण्डी पर ही ! सिद्धान्तों—संस्कृति का लेखा-जोखा मेरी हृद्-पृष्ठ-भूमि पर तो बचपन ही से अङ्कित है यह कि अपने देश—अन्तर-वेष की मस्ती–हस्ती–वास्तविक बस्ती तो तभी है जब कि हम मानवतावाद के उचित आदेशों का क्षण-प्रतिक्षण ही पालन करें। हम जिसे जो सम्बोधन करें—अन्त तक उसके लिए वैसी ही भाषा–व्यवहारों का सदुपयोग भी करें। यदि हमने ऐसा किया—तो अहित होना असम्भव ही ! लगभग तीस की अवस्था होने आई मेरी—आप मुझ पर और मेरे हृदय पर मेरे ही कहने से यह विश्वास कर लीजिए कि मैंने जिन्हें भी आज तक बहन–दीदी–भाभी सम्बोधन किया है—अन्त तक अपने आपको उनके समक्ष नन्हें शिशु ही सा पाया है। ऐसा पाने में ही सुख-शान्ति मिलती रही है अभी तक मुझे और इसीलिए मैं अनाथ होने पर भी अभी तक हूँ जीवित ही। मैं अवश्य मर जाता—कभी का कहीं नीचे गिर जाता—परन्तु मेरे सिद्धान्त और संस्कृति ने मुझे सदैव क्षण-प्रतिक्षण ही उबारा ही—न गिरने ही दिया और न अन्त तक कभी कहीं झुकने–चुकने–रुकने ही। मेरी मानी हुई एक नहीं—अनेक बहिन-भाभियाँ हैं, मैं तो उन्हीं की पावन–भावन स्मृतियों—कभी न भूलने वाली आदर्शमयी वाक्य-लड़ियों को चिन्तन के क्षणों में, अत्यधिक स्मरण हो आने पर गुन-

गुना लेता हूँ और उसी में असीम सुख-शान्ति पा लेता हूँ—इसी भीषण—छलमय—स्वार्थमय मानव-समाज ही में और उसी की समाज ही में ! अविवाहित हूँ—पर बचपन ही से मातृ-हीन होने के कारण नारी के प्रति श्रद्धा-पूर्ण कामनाएँ—भावनाएँ रहीं हैं मेरी । बचपन से आज तक नारी को मैंने उपेक्षित-पीड़ित ही पाया है और इसीलिए उसके समानाधिकारों के लिए मेरे भग्न-हृदय में अटूट आस्था है और उसी के सुधार की आकांक्षाएँ लिए ही मैं राह अपनी चल रहा हूँ—अन्त तक चलना मुझे है—इसलिए कि धर्म मेरा—कर्म मेरा और मर्म भी मेरा !'

: १० :

यह बात नहीं है कि जीवन ने कभी किसी से प्यार नहीं किया—किया अवश्य, परन्तु तब कि जब एक सजातीय महोदय उससे बोले यह कि—'यदि आप स्वीकार करें तो मैं अपनी लड़कियों में से एक से आपका विवाह शीघ्रातिशीघ्र ही करना चाहता हूँ!' जिन महोदय ने यह बात कही—वे शराब की दूकान किया करते थे। जीवन ने उनकी इस बात की स्वीकृति एक ही क्षण में दे दी—इसलिए कि वह यह संकल्प कर चुका था कि—'यदि मैं विवाह कभी करूँगा ही तो किसी उपेक्षित–गरीब उस लड़की ही से—जिसे कि मेरी ही भाँति सभी व्यर्थ ही में भला-बुरा कहते होंगे।' जीवन के एक ही क्षण में इन महाशय को स्वीकृति दे देने का मूल कारण था यही कि इनकी ज्येष्ठ पुत्री को सभी उसी की भाँति चरित्रहीन—आवारा ही कहा करते थे—उसका मूल्य समाज—कहलाने वाले समाज की दृष्टि में कुछ था ही नहीं। लड़की थी भी निराली ही—कालेज में पढ़ने वाली—एक नहीं—अनेकों छोकरों के साथ नित्य ही इधर-उधर घूमने वाली–बातें बनाने–मटकाने वाली—कवयित्री-लेखिका—सरल–तरल–हृदय-द्वन्द्व को कभी भी व्यक्त न करने वाली ही। इस लड़की का बड़ा भाई जीवन का पूर्व ही मित्र बन चुका था और इसीलिए कभी-कभी उसके विशेष आग्रह पर वह उसी के साथ-ही-साथ उसके घर भी चला

जाया करता था। इस परिवार की विशेषता थी यह कि सभी भावुक और थे कला-पारखी ही। जब विशेष आग्रह पर जीवन अपने विवाह की पत्र द्वारा स्वीकृति दे चुका, तो सारा परिवार अपनी कही हुई बात को भूल गया और इस विषय में उससे कुछ भी स्पष्ट न कह मौन भी हो गया। कभी वह कहता—'कहीं स्थायी जम जाओ'—कभी 'कुछ कर दिखलाओ'—कभी 'पैसा कमाओ' और इन सभी बातों का स्पष्ट अभिप्राय था यह कि अपने कदम एक ही क्षण में आगे बढ़ाओ। जीवन को उक्त परिवार से जो व्यर्थ ही में तिरस्कार मिला—इसने उसे इतना पीड़ित किया कि उसका जीवन ज्वार-भाटों-सा उतार-चढ़ाव क्षण-प्रतिक्षण ही दिखलाने-बतलाने लगा। वह इन ज्वार-भाटों से घबड़ाया तनिक भी नहीं—किन्तु उसे कायस्थों के इस प्रकार के व्यवहारों से वह आह मिली, जिसका दूर होना सम्भव ही नहीं था—इसलिए कि उसने अपने श्रद्धेय गुरुजी की आज्ञा का उलंघन सुधार-वादी-दृष्टिकोण लिए हुए ही किया था और उस सरस भावुकता का पुरस्कार मिला था भीषण तिरस्कार ही। बचपन ही से अपनी ही जाति में विवाह-क्षणों से पूर्व ठहराए जाने वाले दहेज-वचनों-प्रवचनों से उसे अत्यधिक घृणा ही थी और इसलिए सदैव ही सोचा करता था यह कि—'है यही कारण कि जिससे मेरी जाति में पुत्री-जन्म-महोत्सव पर सभी रोते हैं—हँसते कदापि ना—यह मान कर कि यह खर्च ही कराएगी—कुछ भी प्राप्त हो सकना इससे कभी भी सम्भव नहीं। यही कारण है कि इस जाति के गरीब वर्ग की अत्यधिक सु-ललनाओं का शुभ विवाह भी उचित-न्यायपूर्ण दृष्टि से कभी भी हो ही नहीं पाता। उनके समक्ष तो क्षण-प्रतिक्षण रहती अँधियारी—वह अँधियारी—जिसका हटना कभी न सम्भव—सदा असम्भव। निरन्तर दृष्टिगोचर होता है यह कि कई विवाहों की कुप्रथा भी इसी जाति में अत्यधिक है। देखता हूँ यह कि कई पन्द्रह-सोलह वर्षीय लल-

नाओं का विवाह अर्थ का अभाव होने के कारण, उन्हीं के पिता की अवस्था ही के लगभग भागने-दौड़ने वाले खूसट व्यक्तियों ही से कर दिया जाता है और इसीलिए कमसिन अवस्था की एक नहीं—अनेक ललनाएँ बिना भोग-रोग-द्वार तक पहुँचे ही विधवा हो जाती हैं। कमसिन अवस्था में ही विधवा हो जाने से कोई किसी के साथ कहीं भाग जाती है—कोई पानी में गिर—कहीं जल, इस थल से क्षण ही में मुक्ति पा, वहाँ लीन हो जाती है—जहाँ कि अनन्त सुख-ही-सुख है—दुःख कहीं खोजने पर भी नहीं मिल पाता।'

जिस समय उक्त महाशय ने अपनी पुत्री से जीवन का विवाह करने की अपनी एकमात्र भावना व्यक्त की थी—उस अवधि को भी समाप्त होने आए अब लगभग आठ वर्ष। उनकी जिस पुत्री को जीवन भावुकतावश उन वर्षों में माँग कर बैठा था—वह बी० ए०, साहित्यरत्न हो गई और उसका शुभ पाणिग्रहण भी एक सज्जन—एम० ए०—प्रोफेसर महोदय ही से—महाकाल की अनुकम्पा ही से, सम्पन्न हो गया। जीवन उसकी माँग कर बैठा था, इसीलिए उसके पिता को लिखे हुए प्रथम पत्र में उसको किए हुए सम्बोधन को, साथ होने पर भी परिवर्तित न कर सका। यों उसे भी उससे असीम ममता-समता थी। कभी वह कहीं प्रत्यक्ष मिलन पर मिल जाती सहसा ही—तो बच्चों की भाँति अपना निर्मल—अश्रु-स्रोत प्रवाहित कर सिसकने लगती—हिचकने लगती और सदैव ही कहती यह—'जब तक बाबूजी—माताजी हैं—मेरे लिए अपने ही विवाह का निर्णय कर पाना भारतीय संस्कृति-आदर्श से है विपरीत ही!' जीवन उसकी यह बात सुनकर मन-ही-मन अत्यधिक हर्षित होता—इसलिए कि इस विषय में उन दोनों के विचार एकदम एक ही से थे। जीवन भी उसके पिताजी के आदेश पर केवल उसे ही माँग बैठा था—अपनी और उसकी अवस्था का अनुमान कर ही। यों उस सहित उसकी प्यार

बहिनें थीं। उसके पिताजी उसकी छोटी बहिन से उसका विवाह करने को उत्सुक थे और वह जिसकी माँग कर चुका था—उसी को अपनी सृष्टि-दृष्टि में बसाए, अपनी ही माँग पर था स्थिर ही। वे दोनों आठ वर्षों में बहुत कम मिल पाए—इसलिए कि उसकी माँग के पश्चात् जीवन की संस्कृति–आदर्श ने उसे झकझोर कर उन क्षणों में सदैव ही कहा था यह—'तुझे कभी भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए—जिससे उसकी आत्मा को, कभी भी, क्षणिक ही क्लेश हो और जो भारतीय-संस्कृति के हो विपरीत ही।' जीवन—वह चाहते तो—आज की नवीन हवा के युवकों–युवतियों की भाँति, अपने ही भाग्य का स्वयं ही निर्णय कर लेते। परन्तु दोनों का स्नेह अन्त तक आध्यात्मिक—भावात्मक ही रहा—वासना का बीजारोपण कभी भी हो नहीं पाया। जिस दिन उसकी विदा हो रही थी—उस दिन, उसी के बड़े भाई के अत्यधिक आग्रह ही पर, जीवन भी उसके समीप ही पहुँच गया था। उसके पति उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे—बाद में आकर उससे मिले। इस बीच वह जीवन से मिल बहुत रोई—आँसुओं को थाम ही पाई नहीं। उसके पति महाशय के दर्शन कर भी जीवन को मिली शान्ति ही। वे भी उसी की भाँति सरल–तरल–भावुक–कला-पारखी–थे अलमस्त प्राणी ही। वह दोनों के सु-मिलाप पर मन-ही-मन ईश्वर को एक नहीं—अनेक धन्यवाद दे रहा था। उसकी विदाई के पश्चात्, उसे अपना प्रान्त—भूमि—जन्म-भूमि—परिवार—दुनियादार–शरीफ-अय्यार कोई भी भा नहीं रहे थे—सभी इस प्रकार खा रहे थे—जिस प्रकार कि वनराज शेर, वन ही में खोज कर अपना शिकार निर्भीकता से खाया करते हैं—खा लेने के पश्चात् अपना ही राग गाया करते हैं। था यही कारण कि उसके विवाह के बाद उसका मन लगा ही नहीं और निरन्तर अपने ही समीप स्थायी बुलाने वाले एक सहृदय–साहित्यिक–विद्वान दादा—जिन्हें कि उसने पूर्व कभी भी कहीं देखा तक

नहीं था—के समीप चम्बा (हिमाचल) पहुँच गया—अपनी ही जन्म-भूमि को सदैव ही के लिए छोड़ देने का दृढ़ संकल्प कर ही । जिस समय वह जाने लगा था चम्बा – उससे उसकी ही मौसी ने, अपने ही निर्मल–परमोज्ज्वल आँसुओं को छलकाते—ढलकाते हुए कहा था—'बेटा ! राघवेन्द्र तो अविवाहित अवस्था ही में हम सभी को कुछ ही क्षणों में छोड़ चले गए—अवनीश का विवाह ठाकुरजी की वाह–वाह–वाह से सम्पन्न हो ही गया—केवल तुम हो—जो कि इतनी अवस्था के हो गए, हो फिर भी अभी तक अविवाहित ! चाहती हूँ यह कि—तुम्हारे अनाथ—एकाकी-हृदय को—तुम्हारे ही सुख-दुःख को साथ-साथ ही बराबरी से बँटा लेने वाली, एक तुम ही सी जीवन-सहचरी मिल जाए—मेरी तो अन्तिम और एकमात्र साध केवल इतनी ही है । सोचती हूँ जब कि तुम्हारे ही अनुज भूषण का विवाह जिस प्रकार भावुक, सुशील कन्या रमा से यथा समय ही हो गया—हो जाए ऐसा तेरा भी । मैं बहुत चाहती हूँ—पर तुम तो टस से कभी मस ही नहीं होते । अवनीश भी यही साध लिए हुए ही मेरे समक्ष नित्य ही सिसकता-हिचकता है !'

मौसी की वास्तविक– माँ की भाँति उभरने वाली उस हूक-फूक का मूल्यांकन उसने गम्भीरता से किया और हिमाचल जाने से पूर्व कायस्थी–नीति–रीति–प्रीति से अत्यधिक घृणा हो जाने के बाद भी, उन्हें वचन दे बैठा यह कि—'यदि स्थानीय सजातीय लड़की—वह लड़की—जिसे कि सभी ने मेरी ही भाँति नित्य ही सताया है—कोसा है—यदि वह चाहे, तो मैं पुनः एक बार, प्रस्ताव समक्ष नहीं आया है फिर भी, लता से अपना पाणिग्रहण दहेज–प्रथा–बन्धनों की आहुति जला, एक ही क्षण में करने के लिए हूँ सदैव तत्पर ही !'

लता के पिता का देहावसान हो गया था और वह पूर्व ही बतलाए हुए शराब-विक्रेता महोदय से ब्याही हुई, उन्हीं की ज्येष्ठ पुत्री

विमल की सहेली थी—उसी-सी बात बनाने वाले समाज में—परिवार में—अपने ही पिता की मृत्यु के बाद निरन्तर ही गरीबी—अभाव के कारण उपेक्षा—बदनामी प्राप्त करने वाली ही। जीवन इससे कभी एक क्षण के लिए भी कहीं बोला तक नहीं था। हाँ, इतना अवश्य था कि वह इसे इसकी सात वर्ष की अवस्था ही से जानता था और मौसी—अवनीश के यहाँ कभी उसके आने पर—कभी सड़कों पर दूर ही से मूक रहकर, सहानुभूति की दृष्टि से उसका—उसके कर्मों का निरीक्षण-परीक्षण अवश्य ही कर लिया करता था। लता सहित उसकी नौ बहिनें, दो भाई थे। एक बहिन की मृत्यु बचपन ही में हो चुकी थी—पाँच के विवाह पिताजी अपने जीवनकाल ही में कर गए थे। तीन और थीं—बीस, अठारह, नौ वर्ष ही की। बीस वर्षीय कन्या का नाम ही लता था—जो कि अपनी विधवा माँ, चार नन्हें भाई-बहिनों की उचित जीवन-व्यवस्था के निमित्त कहीं किसी सेठ के बच्चों को पढ़ाने जाया करती थी। दोष इसका नहीं—इसकी परिस्थितियों का था यह कि अविवाहित होने पर भी—पूर्ण तरुणाई होने पर भी, अभावग्रस्त मर्दों—ऐसे-वैसे मर्दों की संगति किया करती थी और वही उसे भाती—सुहाती—हरषाती—सरसाती भी थी। समाज में स्थानीय समाज में निरन्तर ही इसकी बदनामी हो रही थी और सभी इसे एक ही स्वर में चरित्रहीन—न जाने क्या-क्या कहा करते थे। जीवन को तो इसकी बदनामी सुन सदैव दुःख ही होता—पुरुषवर्ग की दुरंगी चालें देख-सुन घृणा ही होती और था यही कारण कि मौसी के विवाह-आग्रह करने पर वह हिमाचल जाने से पूर्व—पुनः मान-अपमान का तनिक भी विचार न कर, इससे विवाह कर लेने की मौसी को स्वीकृति दे आया था—यह मान कर कि अच्छों—धनवानों को तो सभी ही अपनाते हैं—बुरों—कहलाने वाले बुरों को अपनाना ही मानव-धर्म-कर्म-मर्म-शर्म है!

मौसी को वह अपने विवाह का वचन इसलिए भी दे बैठा था कि अविवाहित जीवन के अन्तिम मिलन पर, विमल ने अपने ही घर—साथ-साथ एक ही थाली में भोजन करते समय, असीम वेदना के साथ, अपना विवाह वर्तमान पति से तय हो जाने पर कहा था कि—'आप अपना विवाह कर लीजिए न—मेरे खातिर ! यदि आप ऐसा कर सके, तो मेरे ऊने-ऊने मन को नवीन उत्साह, नवीन चाह, नवीन राह और पुरातन आह का अन्त हो नवीन थाह सुलभ हो सकेगी। मैं समझती हूँ कि मेरी इस कामना-भावना को आप यथा शीघ्र ही पूरी अवश्य होने देंगे !'

दूसरी बात यह भी थी कि लता के परिवार को अवनीश भी अपने विवाह के पूर्व ही, नाना-नानी, छोटे मामा-माई के तय कर लेने पर, उसी की बड़ी बहिन से अपना विवाह कर लेने का पूर्ण वचन दे बैठे थे और फिर बसन्तीलालजी के भड़काने-लड़काने के कारण ही, एक ही क्षण में, अपने वचन को वापिस भी ले चुके थे। श्रीपाल के दूसरे विवाह का वचन भी इसी परिवार को दिया गया था, पर इस परिवार की आर्थिक-स्थिति मजबूत न होने के कारण, वह भी अपना विवाह इस परिवार में न कर पाया। जीवन अपने परिवार-द्वारा, दो बार इस परिवार का अपमान होते देख ही, लता की माँग कर बैठा था।

: ११ :

मौसी की लता से विवाह कर लेने का वचन दे जीवन जालन्धर के लिए रवाना हो गया—इसलिए कि वहाँ के द्वाबा कॉलेज में चम्बा वाले दादा के ज्येष्ठ पुत्र अध्ययन करते थे और अपने पिताजी की भाँति ही, वे भी उसे देखने के लिए वर्षों से लालायित ही थे। जब वह जालन्धर पहुँचा, न उसके पास पहिनने को अच्छे कपड़े ही थे—न आर्थिक-स्थिति ही उसकी ऐसी थी कि वह सहज ही जालन्धर से चम्बा पहुँच जाता। दस दिन वह खेम बाबू के पास जालन्धर ही रहा—उसी के साथ-साथ ही उसने खाया-पीया—मतलब यह कि उसकी वहाँ की सारी जीवन-व्यवस्था का सम्पूर्ण दायित्व एकमात्र उसी के कन्धों पर ही था। आर्थिक-स्थिति जिस प्रकार उसकी लड़-खड़ाई हुई थी—ठीक उसी प्रकार खेम बाबू की भी। वे दोनों एक-दूसरे से मिलकर अत्यधिक प्रसन्न हुए—इतने प्रसन्न कि सम्पूर्ण जीवन ही एक-दूसरे से एक-दूसरे का कभी दूर रहना-सहना-कुछ कहना दस ही दिन के मिलन के पश्चात् असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। खेम की—प्रिय खेम की हस्ती-मस्ती थी अत्यधिक अल्हड़ ही। जीवन पर थी उसकी इतनी अटूट ममता कि वह उसकी सारे दिन की थकावट को मिटाने के लिए, रात्रि को उसके सिर में तेल डाल कर मालिश करता—उसकी इच्छा न होने पर भी भावुकतावश

उसके हाथ-पैर-सिर दबाता और फिर हिमाचली-पंजाबी लोक-गीतों के स्वरों को साध उसे सुला देता। उसके सहपाठी मीत भी उसे श्रद्धा ही से देखते और समय मिलते ही साध रखते यह कि वह उन्हें भी एक नहीं—अनेक अपने ही गीत सुनाए।

अवनीश भय्या से उनकी स्थिति का अवलोकन कर वह पैसों की माँग तभी किया करता था—जब कि छुआ करती अँधियारी—वह अँधियारी, लगता जिसका छटना असम्भव। उसे भली-भाँति याद है यह कि बसन्ती-निवास त्यागने के बाद, उसने स्वयं उनसे रुपयों-पैसों की माँग अधिक-से-अधिक चार-पाँच समय ही की थी—मतलब यह कि कुल मिलाकर सम्पूर्ण अवधि में सौ रुपयों से अधिक उसने लिए ही नहीं। जो कुछ लिए वह भी इसलिए कि राघवेन्द्र दादा की मृत्यु के पश्चात् वह पेचिश, ज्वर, हिन्दू-मुस्लिम-दंगे की पिटाई, बचपन में हुई निरन्तर की पारिवारिक-मार-दर्द से रहता था अत्यधिक अस्वस्थ ही—इतना अस्वस्थ कि चरण नित थे लड़खड़ाते। सभी पारिवारिक दूर से ही उसकी यह स्थिति देखा करते निरन्तर ही, पर कोई भी कभी दमड़ी खर्च कर, उसका इलाज कराता ही नहीं—सभी चाहते मर जाए वह—इसलिए कि उसके साहित्यिक-विकास से सभी मन-ही-मन डाह किया करते थे। था यही कारण कि वह अन्य महानुभावों—राहगीरों—परिचित किसी भी सहृदय से कर्ज ले लिया करता था परन्तु...माँग न पाता था उनसे ही, जो उसके थे—पर बहरे थे—बहरे ऐसे—जो कि समाज से सदैव ही उसकी अस्वस्थता को सुना करते थे ध्यान ही से, पर हो जाते मौन सदा ही—कुछ कहते ना—कुछ करते ना। हाँ, सदा अवनीश—बड़े मामाजी उपदेश भरे लम्बे-लम्बे पत्र अवश्य ही कभी-कभी उस तक पहुँचा दिया करते थे। कष्ट न देने की हार्दिक इच्छा होने पर भी इस समय अवनीश दादा को उसने तार-द्वारा पचीस रुपये भेजने का पत्र इसलिए लिखा कि उसके-सोम के पास जालन्धर से कश्मीर पहुँचने का मार्ग-व्यय था ही नहीं और वह स्वभाव के अनुसार फुककिया

ही अन्य किसी भी वहाँ के सज्जन से माँगना चाहता ही नहीं था। अव-नीश दादा को पत्र लिखकर समल क्षेम हूँ के वह प्रतीक्षा करता रहा उनके सन्देश की और एहसान फरामोशी उसे भाती नहीं है इसी से लिखना आवश्यक है यह कि उन्हीं के द्वारा प्रेषित रुपये उसे तार-द्वारा यथा समय ही प्राप्त हुए—उन्हें पाकर उसी रात्रि को वह—क्षेम चम्बा के लिए रवाना भी हुए—नवीन आह-उत्साह लिए ही। विदा करते समय स्टेशन पर क्षेम के सहपाठी सत्यार्थी—बाजू थे उपस्थित।

चम्बा वाले दादा का तनिक परिचय देना तो वह भूल ही गया—जो कि है यह—इनका आगमन उसके जीवन में सात वर्ष पूर्व. अपने गुरुजी-द्वारा सहसा पत्रों-ही-पत्रों में हो गया था अधिक गहरा। बात थी यह कि उन दिनों दिल्ली से लौट कर वह अत्यधिक अस्वस्थ हो गया था और इलाज के लिए गुरुजी से बम्बई पत्र लिखकर उसने यथा शीघ्र ही अपनी जन्म-भूमि ही में रुपये मँगवाये थे। गुरुजी की जेब उन दिनों खाली ही थी और इसीलिए उन्होंने उक्त महानुभाव को उसे मदद—आर्थिक-मदद करने के लिए भी लिखा था। गुरुजी ने उसके लिए अन्य किसी को लिखा होगा—उसे यह ज्ञात नहीं था और इसीलिए चम्बा से पच्चीस का मनिआर्डर आने पर वह उसे ले तो चुका था विवशतावश......परन्तु बाद में उसकी आत्मा अधिक पीड़ित हो गई थी—अपरिचित आत्मा के पनजाने ही रुपये प्राप्त कर। वह पत्र-द्वारा अधिक सनक गया था—लिख बैठा था कि वह लक्ष्मी का लोभी-भोगी नहीं—आपने रुपये क्यों भेजे? बाद में गुरुजी का पत्र मिला कि 'रुपये मैंने ही चम्बा पत्र लिख कर भिजवाए थे। रुपये भेजने वाले महानुभाव दुर्जन नहीं— हैं सहृदय सज्जन ही और इसीलिए उनसे बिगड़ने-सनकने की कोई आवश्यकता भी नहीं।' वह गुरुजी का पत्र पाकर गम्भीर हो गया था और चम्बा वाले दादा के पत्र की सरस आशा-भाषा-परिभाषा का अवलोकन कर मन-ही-मन उनकी श्रद्धा भी

करने लगा था—स्नेहवश ही—स्वार्थवश ना! गुरुजी से वह कभी भी संकोच नहीं करता और इसीलिए उन्हें अपने सौंपता क्षणों में, अपना ही सब कुछ मान-जान, अपनी माँग—आवश्यक माँग की आवेग आने पर लिख दिया करता था—वे भी सदैव यथा शक्ति उसे सहायता किया करते · उसे प्रसन्न-स्वस्थ-स्थायी-चरित्रवान देखने के लिए मन-ही-मन आशीर्वाद दिया करते। उनका और अन्य परिचित भाई-बहिनों-बहिनोइयों का स्नेह ही उसे मृत्यु-द्वार तक पहुँच जाने के बाद भी जीवित-सुरक्षित रखता—उसे मरने ही नहीं देता—नवजीवन प्रदान करता नित। हैं यही वे बात, जिनको वह कह न पाया था अभी तक।

जालंधर से रात्रि को गाड़ी चली—उसने उसे और खेम को प्रातः होते-होते पठानकोट पहुँचा दिया। पठानकोट से वे दोनों मोटर में बनीखेत के लिए रवाना हुए—बनीखेत पहुँच गए दुपहर ही को और वहाँ से चम्बा की मोटर निकल गई इसी से रहे रात्रि भर। दूसरे दिन चम्बा पहुँच गए। बनीखेत से पाँच मील की दूरी ही पर डलहौजी भी दिखाई दिया था। पठानकोट से चम्बा तक की पहाड़ी-प्रकृति—झरनों का अवलोकन कर पीड़ित मन-आत्मा हरषी-सरसी ऐसी कि उसे यह अनुभव हो गया कि इधर यदि वह स्थायी बस गया, तो उसका अन्त न हो पाएगा!

जब वह खेम सहित उसके घर पहुँचा तो वहाँ उसके पिताश्री—जीवन के दादा वहाँ विराजित नहीं थे—चले गए थे घूमने बाहर चम्बा ही में। कुछ समय बाद ही वे घर लौटे तो खेम ने उसका परिचय उन्हें दिया और उनका परिचय उससे कराया। परिचय प्राप्त होते ही उसके हाथ अपने दादा के चरणों तक पहुँच गए और हो गया वह नत-नयन ही—इसलिए कि वह उन्हें अब से पूर्व, न देखने के बाद भी स्वर्गीय राघवेन्द्र दादा ही सा मान बैठा था और उनकी उतनी आस्था भी करने लगा था। वे दोनों एक-दूसरे से मिल अत्यधिक

प्रसन्न हुए—इतने प्रसन्न कि जिसका सूक्ष्म ही में वर्णन करना उसके भावुक हृदय के लिए सम्भव नहीं है।

खेम ने अपने अन्य भाई-बहनों से भी परिचय कराया और अपनी दादी तथा माताजी से भी। भाइयों के नाम थे—देवेन्द्र, सत्येन्द्र, नरेन्द्र, द्विजेन्द्र और बहिनों के चम्पा, मोहिना, सुषमा तथा गोदी में विराजित नन्हीं। अन्तरंग मित्रों में से मिलाया उसने—सर्वश्री केदार ठाकुर, हरिप्रसाद शर्मा 'सुमन' तथा हरिश्चन्द्र 'तरल' ही से।

चम्पा और मोहिना खेम की बुआजी की सुपुत्रियाँ थीं—जो कि खेम से अवस्था में लगभग पाँच वर्ष छोटी ही थीं और इस समय तक अपने चरण-अध्ययन-पगडण्डी की ओर ही अग्रसर किए हुए थीं।

देवेन्द्र ने पाठशाला छोड़ दी थी—घर-कार्य में तन्मय था वह और तन्मय था घर में रखी हुई कीमती बन्दूक को सँजोने—साफ करने—फिर उसी से जंगलों में शिकार कर निराली मस्ती से घर लौटने ही में।

सत्येन्द्र आठवीं कक्षा में अध्ययन कर रहा था और घर में पिताजी-द्वारा सँजोए हुए पुस्तकालय का एकमात्र कर्णधार भी था—वह कर्णधार—जो कि पाठशाला से लौटने पर पुस्तकालय की पुस्तकें साफ करता, उन्हें व्यवस्थित जमाता—आवश्यकता पड़ने पर आगन्तुकों को उन्हें सहर्ष पढ़ने के लिए देता—पढ़ लेने के पश्चात् पुनः उनसे ले लेता—समीप अपने रख लेता।

नरेन्द्र-द्विजेन्द्र की अवस्था में छोटाई-बड़ाई थी लगभग दो वर्ष ही की। दोनों साथ-ही-साथ खेलते, पाठशाला में पढ़ने जाते, हँसते—रोते—गाते—बजाते—नचते—नचाते—निज सरल—तरल—भावभरी-चावभरी भावना ही से। नरेन्द्र था वर्ष आठ का—द्विजेन्द्र प्यारा छः ही का।

सुषमा रानी तीन वर्ष से अधिक की नहीं । उसे परिवार के समस्त मनुष्य चाहते थे इतना कि उससे एक क्षण के लिए भी दूर होने पर आ जाती थी सदा उदासी ही, छा जाती थी सदा घटा-सी ही !

नन्हीं थी सचमुच ही नन्हीं—जो झूला करती झूले में, मय्या उसे सुनातीं लोरी ।

केदार ठाकुर की अवस्था है खेम के आस-पास ही—मतलब यह कि बीस से अधिक नहीं । वह भी खेम ही सा असीम भावुक, साहित्यानुरागी—अलबेला ही था । स्थायी-निवास इन दिनों उसका खेम-परिवार ही में था । अध्ययन चल रहा था उसका इन्टर ही का । खेम की दादीजी इसे इसकी नन्हीं अवस्था ही में पाँगी से अम्बा ले आई थीं और लालन-पालन किया था बड़े लाड़-प्यार ही से ।

बन्धु हरिप्रसाद शर्मा 'सुमन' भी केदार-खेम की अवस्था ही के सुकवि, लेखक, सनातनधर्म पुस्तकालय के मन्त्री, साप्ताहिक 'किरण' के जाने-माने सम्पादक ही थे—निरन्तर भावनाओं में रहने वाले—बहने वाले और उसी में कुछ कहने वाले भी ।

श्री हरिश्चन्द्र 'सरल' का परिचय है यही कि वे भी खेम-सुमन-केदार के मित्र थे और थे सुकवि—सुलेखक औ' विचारक ही ।

माताजी-भाभीजी में माँ-सा ही अटूट—असीम प्यार-दुलार-सार-अधिकार ही था और था वह भव्य प्रकाश ही—जो कि जीवन से स्नेह-विहीन—अभागे—उपेक्षित राहगीर को राह दिखाता था, चाह तक पहुँचाता था, आह से कोसों दूर हटाता था और सुनाता था वे स्वर, जिसे सुन मन वाह-वाह कर उठता था । इन दोनों का कार्यक्रम था यह कि प्रातः से उठ सारे घर की सफाई करतीं स्वयं और नौकरों से करातीं, चाय पिलाने-पीने के पश्चात् स्नान कर पूजा करतीं, फिर परिवार के समस्त सदस्यों के लिए भोजन बनातीं, दुपहर को अवकाश मिलने पर कभी ऊन बुनतीं-बुनातीं, कभी सूत ही और शेष समय में

रामायण—गीता—प्रेमसागर, सुखसागर, धार्मिक—ग्रन्थों—का गम्भीरता से अध्ययन किया करतीं; कभी कभी रात्रि को अड़ोस-पड़ोस की बहिनों को एकत्रित कर हिमाचली—पहाड़ी—लोक-गीतों को मर्मों से सुकोमल स्वरों में गातीं ढोलक ही पर । इन्हीं अवसरों पर—सुअवसरों पर माताजी लोक-गीत गा ढोलक बजातीं—भाभी स्वयं लोक-गीत गा नाचतीं—सहेलियां को भी नचातीं ऐसा कि वहाँ वह, दादा, खेम, केदार, अन्य समस्त बच्चे अवलोकन कर मुग्ध हो जाते ऐसे कि उन्हें अपना होश ही नहीं रहता ।

यह बात नहीं है कि केवल महिलाएँ ही गातीं—नाचतीं—उनका आयोजन समाप्त होने के बाद ही दादा, खेम, केदार भी गाते—नाचते ऐसा कि वह उनकी कला—सु-कला को निरख-परख विस्मय में पड़ जाता, एक-एक क्षण में कई विचारों के गिरि चढ़ जाता ! उसके चम्बा आने के पश्चात् एक माह की अवधि में उसे भी दो बार खेम—केदार के ही साथ सभी के आग्रह पर नाचना पड़ा था और वह भी नृत्य में तन्मय हो गया था ऐसा कि उसे स्वयं के भूत—भविष्य का उस समय कुछ भी ध्यान नहीं रहा था ।

यह सब जानकारी तो उसे चम्बा एक मास रह कर मिली । यों चम्बा आने पर प्रथम दिन का कार्यक्रम रहा यह कि घर के नौकर ने उसके और खेम के गर्म पानी से पैर धोए, बिस्तर बिछाए, माताजी-भाभीजी ने भोजन कराया—उन दोनों ने भर पेट भोजन किया और सोए ऐसे कि थकान की समाप्ति तक केदार ने उन्हें निद्रा-मुक्त किया । दूसरे दिन उठने पर उन्होंने देखा कि सिरहाने उनके हरिप्रसाद शर्मा 'सुमन' तथा हरिश्चन्द्र 'तरल' विराजित थे ।

एक मास का कार्य-क्रम था यह कि खेम तो दस दिन की छुट्टियों में आया था इसलिए उसे परिवार में छोड़ स्वयं जालन्धर चला गया । दादा भी आवश्यक कार्य से लगभग पन्द्रह दिन बाद शिमला

चले गए । दादा के शिमला जाने से पूर्व उसके—अपने खाना और खाकर पड़े रहने का स्वभाव बचपन ही से न रहने के कारण वह उनसे निवेदन कर चुका था यह कि—'यों तो मेरी मनोदशा वर्षों से इतनी अधिक खराब है कि मेरा स्वास्थ्य डाँवा-डोल ही रहता है—विचार—सरिता के निरन्तर—क्षण-प्रतिक्षण ही हृदय-भूमि पर निज प्राणों की दौड़-होड़ लगाने के कारण ही । कभी दवा इसलिए नहीं लेता कि जीने की मुझे साध नहीं और स्वयं के मर्ज को आज से नहीं, बचपन ही से भलीभाँति ही जानता हूँ—मानता हूँ । मर्ज है मेरा यह कि मुझे स्वप्नों से दुलार करना नहीं आता, छाया का मनुहार करना नहीं आता और विश्व को यह सदैव ही आता—भाता है इसी से मेरी कभी उससे बनती भी नहीं—निरन्तर ठिड़ती ही रहती है—विचार-युद्ध-क्षेत्र ही में । इतने बड़े विश्व में स्वार्थ से परे होकर जिन्होंने मुझे आँका-भाँका, है उनकी संख्या आठ-दस से अधिक नहीं । हैं उनमें सर्वप्रथम पिता-स्वरूप पंडितजी (गुरूजी)—फिर अपने 'जीवन' उपनाम—निर्माता स्वर्गीय राघवेन्द्र दादा स्वरूप आप—और शेष भाई—बहिन—बहनोई ही । बहिन शब्द की परिभाषा मुझ अनाथ, मातृहीना की दृष्टि में, निज सृष्टि के क्षणों ही से अत्यधिक गहन है—इतनी गहन कि इस सम्बोधन से आज के समाज का उसी के द्वारा खिलवाड़ होना मुझे कभी भी भाया नहीं है । बहिनें मेरी सभी असीम भावुक—सुकवियित्री—सुलेखिकाएँ ही हैं । बहनोई में से दो वकील हैं—इनमें से एक वकील के साथ-साथ हिन्दी के सुप्रसिद्ध प्रकाशक भी हैं । यह बहनोई रहते हैं उन्नाव ही में । अवस्था में सबसे अधिक मेरी—बहिनों में उन्नाव वाली बहिन—दीदी ही हैं । नाम है उनका सुमित्राजी । दूसरी बहिन इन्दौर हैं—एक ख्यातिप्राप्त सु-सम्पन्न परिवार में इनका जन्म हुआ है—महान परिवार ही में हुआ है विवाह भी । जीजाजी ख्यातिप्राप्त वकील हैं । इन दीदी का नाम—सु-नाम

है इन्दिराजी। इन दोनों से परिचय—प्रत्यक्ष-मिलन—परिचय दो वर्ष पूर्व और पाँच वर्ष पूर्व ही का है। सुमित्राजी से लखनऊ—रेडियो—कवि-सम्मेलन में मार्च, १९४९ ई० में मिला और इन्दिरा दीदी से नवम्बर' १९५१ में इन्दौर सहसा ही। यों दोनों का नाम पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर ही सुकृतियाँ पढ़ बचपन ही से जान चुका था। अध्ययन की दृष्टि से जिन्हें मैंने मीरा—अन्य पूर्व-कालीन—कवियित्रियों—लेखिकाओं के बाद पढ़ा—थीं वे—महादेवी, सुभद्रा, सुमित्रा, इन्दिरा, तारा, 'लली', सुधा, 'चकोरी', शैल, किरण, शान्ति, रामेश्वरी, निर्मला इत्यादि। प्रत्यक्ष-परिचय सुमित्राजी—इन्दिराजी के अतिरिक्त रामेश्वरीजी, निर्मलाजी, शैलजी, किरणजी, शान्तिजी, 'सुधा'जी और इन सभी से पूर्व सुभद्राजी से भी हुआ। सुभद्राजी के दर्शन इन्दौर ही में हुए थे, रामेश्वरीजी के गाज़ियाबाद में, निर्मलाजी के दिल्ली में, शैलजी—किरणजी के गोरखपुर—मेरठ—बदायूँ में, 'सुधा'जी—शान्तिजी के लखनऊ ही में। हाँ, मैनपुरी में चन्द्ररेखाजी से भी भेंट हुई थी। इन सभी का साहित्य मुझे प्रिय—अत्यधिक प्रिय लगता था और इसी से मैं इनका वह भव्या सौभाग्य ही से बन गया था—जो इनमें से किसी एक के किसी भी काम नहीं आ पाता था......पर सच है यह, वन्दन करता मन में इनका। सुभद्राजी का दुखद देहावसान मोटर-दुर्घटना में हो गया और शेष सब ईश्वर की अनुकम्पा से हैं सकुशल ही। सौभाग्य है मेरा कि हिन्दी के अत्यधिक वयोवृद्ध—सुसाहित्यकारों—कलाकारों का वरद-हस्त भी मुझ अकिंचन पर लगभग पन्द्रह-सोलह वर्षों से है ही। कष्टमय-जीवन मुझे कदापि व्यतीत नहीं करना पड़ता......परन्तु मेरी स्पष्टता ने मुझे बागी बना दिया ऐसा कि इच्छा न होने पर भी मैं सभी से दूर.........अत्यधिक दूर होता गया—हो रहा हूँ और इसका मुझे तनिक भी खेद नहीं है। अब चाहता हूँ यह कि आप मुझे चम्बा में मेरे ही योग्य कोई कार्य

बता सकें तो अधिक अनुकम्पा हो—मेरे लिए यहीं रहना सम्भव हो जाय''''''अन्यथा मजदूरी की खोज में मुझे कहीं और ही चटकना-भटकना पड़ेगा। मन की साध तो यह है कि आप मुझे अपनी जन्म-भूमि पाँगी में अपने बागीचे का माली बनाकर भेज दें—वहीं मेरे रहने-बहने के लिए एक कुटिया बना दें''''''मतलब यह कि मुझे परिश्रम में ऐसा जुटा दें कि अपने पूर्व-दुखद-जीवन का भान ही न रहे। बागीचे का काम करते-करते किसी दिन वहीं से एक सर्प निकले-मुझे डस ले—मेरा अन्त हो जाए—समस्त बच्चे मेरी मृत्यु का संदेश आपको आकर दें और आप फिर मेरा क्रिया-कर्म कराएँ।"

उक्त सभी बात जब वह अपने दादा से एक ही साँस में कह गया तो सुप्रतिष्ठित—कला-कर्मी-मर्मी उसके दादा उसे धैर्य बँधाते हुए बोले यह कि—'अभी तो मुझे केवल तुम्हारे स्वास्थ्य ही की चिन्ता है—प्रथम अपना स्वास्थ्य ठीक कर लो—यहाँ रहकर या पाँगी जाकर ''''''स्वस्थ हो जाने के बाद सम्पूर्ण जीवन पड़ा है—इच्छानुसार कुछ भी करना, मैं कभी भी रोकूँगा नहीं!' हाँ, रामनवमी समीप आ गई थी इसलिए उसे रामायण के पारायण के हेतु आदेश दे, धैर्य प्रदान कर - दस रुपये हाथ-खर्च दे वे चले गए।

रहने वाला वह कहीं का भी हो—जन्म-भूमि उसकी कहीं भी हो पर चम्बा वह अपनी भूमि छोड़—तीर्थ-यात्रा कर आया उज्जैन ही से और इसीलिए इधर की अनुपम प्रकृति का अवलोकन कर उसका कवि प्रथम दिन ही अलाप उठा था:—

जो कल तक था शिप्रा-तीरे, आज वही रावी-तट पर ही!
यह विधान की बात नहीं
इसमें अन्तर का नेह निहित है,
यह समान की बात नहीं
इसमें मानस का गेह निहित है;

जो कल तक था करुणा—चारे, आज वही चाही-वट पर ही !
जो कल तक था शिप्रा—तीरे, आज वही रावी-तट पर ही !
यह न किसी का शाप—ताप
इसमें शीतलता सुधि-निधि की,
यह न किसी की क्षणिक चाप
इसमें स्थिरता बुधि-विधि की;
जो कहता था 'दुविधा ही रे', आज वही 'सुविधा' रट पर ही !
जो कल तक था शिप्रा—तीरे, आज वही रावी—तट पर ही !

और इसके पूर्व बनीखेत—चम्बा के मध्य की सलोनी—सु-प्रकृति को देख गुन-गुना उठा था:—

शैल-शिखरों से सुसज्जित, यह हिमाचल देश री, सखि !
यहाँ पर केवल वही हैं
जो प्रकृति ही के उपासक,
यहाँ पर केवल वही हैं
जो सु-कृति ही के प्रचारक;
मधुर ध्वनि से नित्य गुञ्जित, यह हिमाचल देश री, सखि !
शैल—शिखरों से सुसज्जित, यह हिमाचल देश री, सखि !
यहाँ पर मिटती उदासी
मुदित ही रहता सदा तन,
यहाँ पर हटती उदासी
उदित ही रहता सदा मन;
भावना से सदा अर्चित, यह महेश—प्रदेश री, सखि !
शैल—शिखरों से सुसज्जित, यह हिमाचल देश री, सखि !

प्रेम उसे छोड़ कर चला अवश्य गया था जालन्धर, परन्तु उसकी मोहिनी सूरत उसकी पुतलियों में झूमती थी। जिस प्रकार वह विमल

से स्नेह करने लग गया था—ठीक इसी प्रकार वह भी एक परिचिता की प्रेम-ज्वाला में उस ही सा जल रहा था—गल रहा था और फिर भी पल ही रहा था। उसकी यह प्रेम-कहानी उसे उसी की ज़ुबानी ज्ञात हुई थी—जिसे सुनकर वह सिसक उठा था—झिझक उठा था। वह उस लड़की से अपना विवाह करना चाहता था और परिस्थितियों का खिलवाड़ चल रहा था ऐसा कि उसकी भावना-पूर्ति हो ही नहीं पा रही थी। यों जीवन ने उसे भली-भाँति समझा दिया था कि 'जिससे असीम प्यार हो जाता है, उससे पाणिग्रहण होता ही नहीं और यदि हो भी जाता है तो उसका मूल्य नहीं रहता। दैहिक-प्रेम, आत्मिक-प्रेम—आध्यात्मिक-प्रेम को सदैव ही नष्ट करता है—भ्रष्ट करता है—होता वह न कभी स्थायी।' क्षेम उसका यह उपदेश सुन चला गया और उसे उसकी अवस्था पर मन-ही-मन भीषण क्षोभ हो रहा था।

दादा—क्षेम के चले जाने के बाद उसका कार्यक्रम रहा यह कि नौ दिन तक तो वह अपने दादा के आदेशानुसार रामायणजी का प्रातः छः से ग्यारह बजे तक पारायण करता रहा। यह नौ दिन जीवन में ऐसे व्यतीत हुए—जिन्हें भूलना कभी न सम्भव।

ईश्वरवाद की महत्ता को जानने—मानने—पहचानने में हृदय उसका संकुचित बचपन से आज तक कभी भी नहीं हुआ है। यों तो निज हृदय में वैष्णवता की पृष्ठ-भूमि की स्थापना ही हुई है उसके—अभिप्राय यह कि राधा-कृष्ण की उपासना ही करता रहा है वह। पौराणिक कवियों—सुकवियों में उसे सूर—मीरा—तुलसी—कबीर—रसखान—रत्नाकर—भारतेन्दु, अलबेले राहगीरों में विवेकानन्द—रामतीर्थ—परमहंस—आर्य-संस्कृति-निर्माता स्वामी दयानन्द, क्रान्ति-उपासिका झाँसी वाली रानी लक्ष्मीबाई, राणा प्रताप, शिवाजी, अहिंसा-उपासक गाँधी, तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, लेनिन, स्टालिन—जवाहरलाल नेहरू—शरदचन्द्र चट्टोपाध्याय—रवीन्द्रनाथ टैगोर,

अपने अपने महत्वकारी-चमत्कारी रूप लिए निज हृदय में आए हैं—आए हैं किन्तु आए हैं वही कि जिन्होंने सम-दृष्टिवाद—मानवतावाद की कामना—भावना—साधना—आराधना लिए ही अपनी दीप-बाती सँजोई और बुझाई भी।

रामायण का अध्ययन कर इन नौ दिनों में उसे असीम शान्ति इसलिए भी मिली कि महाकवि तुलसी के इस महाकाव्य का ठीक-ठीक अध्ययन वह अभी तक नहीं कर पाया था, न उसने उनके अन्य साहित्य का ही अध्ययन किया था। गुरुजी ने प्रथम मिलन के कुछ ही दिनों पश्चात् उसे आदेश दिया था कि यदि नित्य प्रातः 'विनय-पत्रिका' का पाठ करते रहे तो, दुःख-छाया ना मँडराएगी। उनके इस आदेश की अवधि को समाप्त होने आए लगभग दस वर्ष पर वह उक्त आदेश की पूर्ति नियमित आज तक कभी भी नहीं कर सका—इसलिए कि राघवेन्द्र दादा की मृत्यु होते ही उसकी बुद्धि नष्ट हो गई—भ्रष्ट हो गई—गले में पड़ी वैष्णव कण्ठी उसने तोड़ दी—मरोड़ दी—धर्म से उसकी आस्था उठती ही गई—उठ पुनः अब तक स्थापित नहीं हो पाई। यों उनके पिताजी-गुरुजी श्रीराम-भक्त—उन्हीं की सेना के उपासक—तुलसी—गालिब का अध्ययन—अटूट अध्ययन करने वाले राहगीर ही रहे। गुरुजी का बाना तो अभी तक ज्यों-का-त्यों सुसज्जित है।

धर्म-सरिता में स्नान करना उसने इसलिए भी छोड़ दिया कि उसके अन्तर ने उसे झकझोर तब से अब तक यही बतलाया—तू पूजे पाषाण क्या—जहाँ-जहाँ स्वर, ईश्वर वहँ ही! स्वभाव रहा है उसका यह कि न तो अपमान-जनक स्वरों में वह किसी से बोलता ही है, न सुनता ही। मानता है वह कि जिसकी जैसी भाषा होगी, वैसा ही उसका चरित्र भी। भाषा का असन्तुलन उसे भाता-सुहाता नहीं इसी से वह पिछले कई वर्षों से क्रोधी होता जा रहा है और यही उसका

सबसे बड़ा मर्ज है—कर्ज है—जिसकी वेदना में उसके पेट में भयंकर शूल उठते हैं, निरन्तर पेचिश होती है, ज्वर आता है, अत्यधिक अशक्तता के कारण अकर्मण्य हो वह बैठा ही रहता है— उससे कुछ होता-जाता नहीं और इसीलिए समस्त परिचित नहीं—उसे सर्व-प्रथम यह महारोग देने वाले उसके कृपालु मुट्ठी भर पारिवारिक उसके प्राण न बचाने के पश्चात् भी, उसके किसी काम न आने के बाद भी, सदैव उसे सभी के समक्ष नीचा दिखाने के लिए 'मतकमाऊ' नाम से सम्बोधित किया करते हैं, यह सम्बोधन कर उसे वे अपना गौरव समझते हैं। सभी जीवित पारिवारिकों में से उसे सबसे ज्यादा श्रद्धा है उनसे ही—जिनका कि जीवन—मधुवन उस ही सा मुरझाया हुआ—कुम्हलाया हुआ है। इनके अतिरिक्त अपनी भाव-भाषा—व्यवहार से सभी उसे दुखित ही करते रहे हैं, अब भी किया करते हैं नित ही। सभी पूँजी की महत्ता मानते हैं—हृदयवाद—मानवतावाद—समदृष्टि-वाद—भावनावाद उनके लिए सदैव से तुच्छ ही हैं।

रामायण का पारायण समाप्त करने के पश्चात् उसका कार्यक्रम रहा यह कि वह कभी केदार, कभी उन्हीं के गाँवों से आए हुए ज्येष्ठ भ्राता—जिनका कि नाम वह इस समय भूल रहा है के साथ, कभी देवेन्द्र—सत्येन्द्र— द्विजेन्द्र—सुषमा के साथ सन्ध्या को रावी-तीरे बसे हुए उस मैदान में चला जाता, जहाँ कि नियमित सभी सपरिवार घूमने आया-जाया करते हैं। इसी मैदान में 'सुमन'जी, 'सरल'जी से नित्य ही भेंट हो जाया करती और अन्य कुछ महानुभावों से भी। यहाँ भेंट होने पर कभी वे पण्डित 'उग्र'जी की चर्चा किया करते, कभी कवि-वर 'नवीन'जी—'बच्चन'जी की, कभी 'कर्मयोगी'-सम्पादक रामरख-सिंह सहगलजी की, कभी संगीत-सम्राट् स्वर्गीय उस्ताद अब्दुलकरीम खाँ, सुप्रसिद्ध बीनकार बाबूखाँ जी, संगीत-साधक-आराधक उस्ताद रजबअली खाँ साहब की और कभी पण्डित ओंकारनाथ, हीराबाई

बड़ोदकर, मोहम्मद भाई बीनकार, पंकज मल्लिक ही की। लगभग आठ बजे तक कभी मैदान में घूम,कभी आस-पास की मनभावन प्रकृति का अवलोकन कर, कभी बहिनजी (चम्पा की माताजी) के यहाँ हो ये सब अपने निवास-स्थान पर लौट आते, खाना खाते, खाना खाने से पूर्व कुछ पीते-पिलाते, मस्त हो जाते। खाना खा वह उस कमरे में आ जाता जहाँ कि दादा की मुख्य बैठक थी—उसका निवास-स्थान भी। यों सारा घर उसका अपना घर ही था। कभी वह माताजी के समीप पहुँच जाता, कभी भाभी के, कभी भानजी मोहिनी के—मतलब यह कि मन जहाँ चाहता, मँडराता वह। कभी माताजी—भाभी—समस्त बच्चों के अनुरोध पर भीषण ताप होने के कारण मल्हार सुनाता, घन्टों बाँसुरी बजाता, जब भी मन चाहता प्यारे केदार—देवेन्द्र—सत्येन्द्र—सुरेन्द्र—द्विजेन्द्र—इनके न होने पर नौकर से दादा का हुक्का भरवा कर मँगवाता, उन्हीं के आसन पर हो विराजित मौज से पीता, कुछ लिखता, कुछ पढ़ता।

घर और घूमने के अतिरिक्त वह कभी अपनी इच्छा से कहीं गया तो बहिनजी—चम्पा—'सुमन'जी के निवास-स्थान पर ही। यहाँ वह आया है तब से दो-तीन बार ही—जब-जब भी गया अटूट स्नेह ही पाया उसने औ' असीम शान्ति ही। यों दीदी—चम्पा—'सुमन' भी कभी-कभी परिवार के समस्त सदस्यों और उससे मिलने-खिलने आ ही जाया करते हैं।

खेम-निवास के आस-पास चार-पाँच परिवार और रहते हैं—जिनके कि सदस्य घर माताजी—भाभीजी से मिलने आते हैं—हँसते हैं—हँसाते हैं, उसे भी अपना ही समझ उससे बोलते हैं—उसके भग्न हृदय को जोड़ने वाला मधुरस घोलते हैं और फिर चले जाते हैं अपने घर। जब वे उसके निवास-स्थान पर नहीं आ पाते हैं तो अपने-अपने मकानों की खिड़की ही से उसे चाँदनी पर देख कभी कोई भाभी

पूछ बैठती हैं—'कविजी' घूमने नहीं गए ?'—कभी बहिनें प्रश्न करतीं हैं-- 'कविजी ! आज बाँसुरी नहीं बजाइएगा ?' कभी कुछ भाई कहते—'ग्रीष्म अधिक है—कल ही की भाँति मल्हार गाइए न !' और वह सभी के उत्तर वहीं से एक ही क्षण में दे देता।

परिवार के समस्त सदस्य उसे करते प्यार अधिक और अपना ही समझते—मन उसका इससे बहला-सा । एक बात खलती रहती है कभी-कभी—वह यह कि अपने कुछ न करने की—इन दिनों मलकमाऊ ही होने की ।

दादा के शिमला जाने के बाद एक विशेष बात घटी और वह यह कि केदार ने उससे इस बात का अनुरोध किया कि—'आपको हमारे खातिर अब अपना विवाह अवश्य ही कर लेना चाहिए—हम सभी भाभी की आवश्यकता महसूस करते हैं । क्या आप हमारी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे ? अनुजों की बात आपको मानना ही पड़ेगी !' जब इस विषय में उसकी ओर से उसे घटाटोप अँधियारी ही दृष्टिगोचर हुई तो वह एक दिन राह ही में घूमते-घूमते सानुरोध पुनः बोला—'यदि आपके विशाल हृदय को पढ़ी-लिखी लड़कियों से इस विषय में कचोट पहुँची है, तो अब आपको किसी अनपढ़ लड़की से अपना पाणिग्रहण कर ही लेना चाहिए । लड़की की खोज यदि आप आदेश दें तो मैं कर देता हूँ—है हिमाचली—अशिक्षित—किन्तु हृदय उसका आप ही सा भोला-भाला है—दूर के रिश्ते में बहिन लगती है वह मेरी·········नाम आप विवाह-स्वीकृति देंगे तभी बतलाऊँगा ।'

तीन-चार दिन तक केदार का उक्त परामर्श उसके अन्तरंग में घूमता रहा—झूमता रहा—क्षण-प्रतिक्षण ही उसे चूमता रहा—इसलिए कि उसमें जीवन का सत्य था—स्वप्नों का दुलार नहीं—छाया का मनुहार नहीं । यह बात उसे इसलिए भी भली लगी कि वह स्वयं भी अशिक्षित ही था—माध्यमिक शाला से अपने चरण आगे न बढ़ाने

वाला राहगीर ही। यह परामर्श—निवेदन केदार ने उससे इसलिए भी किया था कि वह उसकी इस विषय की पूर्व ही पराजित गाथा को उस ही से सुन चुका था, भली-भाँति गुन भी चुका था। जब केदार ने उससे अन्तिम बार इस विषय की स्वीकृति चाही तो वह उससे सहज ही में लड़की का नाम पूछ बैठा। उसने बतलाया अपने मन को हल्का करते हुए—अत्यधिक प्रसन्न होते हुए—'नाम है उसका जयन्ती... वही जयन्ती...जो कि निरन्तर ही अपने यहाँ आया-जाया करती है, सामने ही के मकान में हलवाई भाभी के यहाँ रहती है!'

उसने नाम सुना और बोला—'माताजी—भाभी—दादा—दीदी से इस विषय की स्वीकृति लेना, सभी के होते हुए मुझे निर्णय देना लग रहा है अमंगल ही। हाँ, इतना वचन अवश्य तुम्हें दे सकता हूँ कि उक्त आत्माओं ने मुझे आज्ञा-आदेश दिया तो यह विवाह मैं अवश्य ही कर लूँगा, जयन्ती को सचमुच वर लूँगा।'

केदार उससे जयन्ती से विवाह कर लेने की स्वीकृति पा इस प्रकार प्रमुदित होता हुआ दृष्टिगोचर हुआ—मानो कोई नवजात शिशु भूखा होने पर अपनी माँ के स्तन की ओर देख एक ही क्षण में मुसकरा उठता है, मनभावन सम्पूर्ण उष्णता को अपनी शीतलता से अन्त कर देने वाले पूर्णिमा के चाँद ही की भाँति। अन्तर-ज्वार-सार के सहसा ही उभार आने पर वह बोला उससे—'इन सभी की स्वीकृति तो आप से पूर्व मैं ही ले लूँगा.........मैं तो आपकी स्वीकृति चाहता था और वह मुझे मिल गई। इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझता हूँ—आपने अपने अनुज की बात मान ली.........दादा! आपसे यह स्वीकृति पा, पा लिया मैंने हृदय-धन!'

और यह सब कुछ उससे कह उसने उसी क्षण माताजी-भाभीजी, समस्त बच्चों को उसकी यह स्वीकृति सुना दी।

उसी दिन परिवार के समस्त सदस्यों ने उसको इस विषय की अन्तरथाह ली। उसने नत-नयन हो सभी को स्वीकृति दे दी। पाँगी से आए हुए केदार के ज्येष्ठ भ्राता का नाम पूर्व वह भूल गया था, याद आया अब...नाम है उनका ज्ञान। केदार से अधिक उसने ज्ञान भय्या को अपनी विवाह-चर्चा में अत्यधिक डूबा हुआ पाया। जब बढ़ती है तनिक ग्रीष्म ही, रिमझिम बरसते हैं बादल-दल और इसी से झड़ी लग जाने के बाद हिमाचली शीत को मिटाने के लिए उस सहित समस्त बच्चे—नरेन्द्र—द्विजेन्द्र—सत्येन्द्र—देवेन्द्र—ज्ञान—केदार प्रातः उठते ही मकान के छज्जे—पत्तरों पर बैठ धूप लेते, वहीं चाय पीते-पिलाते, पढ़ते-पढ़ाते, हँसते-हँसाते। सामने की खिड़की से हलवाई भाभी और जयन्ती चाय पीते-बिस्कुट खाते दिखाई देते। जयन्ती को ज्ञान—केदार ने सूचित कर दिया था कि—'तुम्हारी शादी इन कविजी से करने का पूर्ण विचार है। इस विषय में तुम्हारी क्या राय है?' जयन्ती भी स्वीकृति दे चुकी थी। उसे देख कभी वह उससे—'चाय पीजिए' कहती—कभी बिस्कुट खाने का अनुरोध करती और वह कहता उत्तर में—'यदि यहाँ आकर स्वयं ही दे जाओ तो अवश्य ही पीऊँगा।' वह लजाती हुई आती, हलवाई भाभी उस तक उसे चाय लेकर भेजवीं। कभी वह उससे कहती—कहलाती—'मुझे छोड़ न जइयो राही, साथ-साथ अब मैं भी चलूँगी!' वह कहता—'नहीं, कदापि नहीं।'

चम्बा आए उसे आज एक माह तीन दिन हो गए हैं। यहाँ कविवर 'बच्चन' जी के पत्र आते हैं—उसे बुलाते हैं—बताते हैं कि लिख 'चम्बा—घाटी—संस्मरण'। अचानक केदार ने बाजार से आकर कहा उससे—'आपको बाबूजी ने शिमला बुलाया है—तार-द्वारा यहीं के एक सज्जन के पास समाचार आया है, चलिए, उनसे मिलवा दूँ।'

वह जाकर केदार ही के साथ उन महाशय से मिला—दादा का पाया समाचार और उन्हीं के द्वारा भेजे हुए मार्ग-खर्च पचास रुपये रसीद दे प्राप्त किए। घर आ कर शिमला-प्रवास की तैयारी की—दूसरे दिन रवाना हो गया। विदा करते समय साथ उसके केदार—देवेन्द्र थे और आधे रास्ते तक छोड़ने जयन्ती भी आई थी। जाते जाते पहाड़ी-भाषा ही में जल्दी लौट उसे ले जाने का, वचनानुसार विवाह करने का वह नम्रता-सजीवता से संकेत कर गई—निज प्रदर्शित-भावों-भाषा ही से।

: १२ :

शिमला आया वह—रीगल होटल में दादा की खोज की...ज्ञात हुआ उसके आने से पूर्व ही वे कहीं और हीं चले गए—शिमला से बाहर। उसने उनके अन्य मित्र—डॉक्टर परमार, पालजी, वर्माजी की खोज की। प्रथम पालजी मिले और फिर वर्माजी, डॉक्टर परमारजी, उनके ज्येष्ठ भ्राता, पद्मदेवजी, सीतारामजी, भास्करानन्दजी, जयानन्दजी, परशुरामजी, कृष्णानन्दजी, अवतारचन्दजी इत्यादि। मिल सभी से मन मुस्काया। सभी ने दादा के आदेश को उसे सुनाया—वह उन्हीं के द्वारा संचालित पत्र—साप्ताहिक पत्र का सम्पादक बना दिया गया। पत्र उसके सम्पादन में प्रकाशित होने लगा, वह उसे उपेक्षित—पीड़ित—हिमाचली-जनता की अन्तर-ध्वनि बनाने का क्षण-प्रतिक्षण ही प्रयत्न करने लगा, अपने निर्भीक-स्पष्ट विचारों द्वारा ही। पत्र का प्रथमाङ्क १६ मई को प्रकाशित हुआ और आज है तीस जून ही। अवनीश दादा के पत्र आते है...लिखते हैं वे—'काश! तुम्हारी शादी हो जाए शीघ्र ही!' आज दिया है उत्तर उसने—

'चाँदी-व्यवस्था की बात छोड़िए......नाना-नानी-मामा-माई'-भाई-भाभी आखिर बात बनाने के लिए ही हैं? आज तक किसी ने लड़की तक की खोज की? मेरी संस्कृति में स्वयं का निर्णय बड़ों के होते हुए करना है असंगत ही औ' इसी से कुछ न करता। आप सभी

की वासनाऊ-नीति-प्रीति-रीति का अवलोकन कर, वेदना ही सुलभ होती है सदा ही। चाहता यह—मौन रहने दें मुझे अब।'

... ...

वह सम्पादकीय लिखने में व्यस्त। अचानक आया तार अवनीशजी का—'तुम्हारी शादी तय हो गई है, लौटती गाड़ी से चले आओ।' उत्तर दिया उसने—

'नया-नया कार्य हाथ में लिया है, आ न सकूँगा। मैं जिन्हें पा रहा हूँ, वह आत्मा हैं कौन ?'

दूसरे दिन लम्बा तार आया। लिखा था—'नाजिरजी की पुत्री लता से तुम्हारा विवाह तय किया है...शीघ्र आओ !'

वह लता का नाम पढ़ते-सुनते ही सब कुछ समझ गया। मौसी को आते समय दिया हुआ विवाह-वचन वह भूल नहीं पाया था। अपने आदर्श-रक्षार्थ—जाति-विकास-भावना से प्रेरित हो उसने तार-द्वारा ही अपने आने का समाचार भेज दिया और उसी दिन श्री चिरंजीलाल से तीन सौ रुपये ले रवाना भी हो गया। तार में उसने विवाह-स्वीकृति दे दी थी।

: १३ :

अपनी जन्म-भूमि में आकर जब गाड़ी रुकी, तो उसने देखा कि उसे लेने के लिए स्टेशन पर अवनीश दादा आए हुए हैं। उसने उनके चरण-स्पर्श किए, उनके साथ सामान सहित उन्हीं के साधना-गृह में पहुँचा, भाभी के चरण-स्पर्श किए, सामान रखा, नहाया खाना खाया और अपने भय्या के साथ लता की माताजी से मिलने मौसी-गृह की ओर रवाना हुआ। लता की माताजी बोलीं—'शादी स्वीकार है? भाँवर के समय बदल तो नहीं जाओगे? हमारे पास कन्यादान के अतिरिक्त कुछ नहीं!'

उसने स्वीकृति दी और बोला—'मैं मानवता का उपासक हूँ—पूँजी-साध नहीं रखता हूँ। कन्या के अतिरिक्त मैं कुछ चाहता हूँ—तो आप सभी का आशीर्वाद।'

दूसरे ही दिन से दादा अवनीश उसके विवाह की तय्यारियाँ करने लगे और लता की माताजी भी। इस विवाह के लिए उसके समक्ष यह प्रस्ताव भी अवनीश और लता की माताजी-द्वारा उस तक आया कि विवाह तीन दिन पश्चात् ही होगा—इसके बाद होना सम्भव नहीं। वह अपने विचारों में स्थिर-स्थायी ही था—दुखित था तो केवल इसलिए कि जयन्ती के साथ विश्वासघात कर रहा था—बहिन-बहनोई—अन्य सभी स्नेही- साहित्यकार-पत्रकार-चित्रकार—मतलब यह कि

समस्त कलाकार इतनी कम अवधि ही में आ नहीं सकते थे। इस बात की वेदना भी हो रही थी कि वह गुरू-आज्ञा-आदेश—विवाह न करने का संकल्प कर लेने के पश्चात् भी उसी ओर अग्रसर हो रहा था। दुर्भाग्य की बात थी यह कि सारे शहर में हिन्दू-मुस्लिम दङ्गा हो जाने के कारण दंगे चल रहे थे—शहर की दूकानें लूटी जा रही थीं—थे भीषण क्षण। इन्हीं क्षणों में अवनीश दादा उसे लिए कभी अनाज खरीदने जाते, कभी मुद्रणालय में कुँम-कुँम-पत्रिका छपाने, कभी अन्य वस्तुएँ खरीदने ही। नए कपड़े उसके लिए और उसकी भावी-जीवन-सहचरी लता के लिए नहीं बन सके। कुँम-कुँम-पत्रिका छप चुकी थीं। एकमात्र कार्यकर्त्ता के स्थान पर था एकमात्र अवनीश दादा ही का नाम। पत्रिका कहीं जा सकीं…कहीं दंगे की भीषणता के कारण, टिकिट न मिलने से जा न सकीं।

... .

आज नौ जुलाई का दिन है, संध्या के छः बजे हैं इस समय। उसे पुरातन शेरवानी मिली अवनीश दादा से…कमीज भी सिल्कन, बसन्तीलालजी का जरी का साफा और इन सभी ने बना दिया दूल्हा। सन्ध्या को बारात लिए लता के घर की ओर पहुँचा। बरात में नाना-बड़े मामा—बसन्तीलालजी-अवनीश दादा—उन्हीं के साले—श्रीपाल—बालकृष्ण—रवीन्द्र—मेहता इत्यादि कई बन्धु-मीत थे उपस्थित। बारात के दरवाजे पर पहुँचने पर लता के बहनोई, अनुज-हरीश—चन्द्रेश—कुसुम—किशन—भूषण ने सर्वप्रथम उसका और तत्पश्चात् बारात का स्वागत किया। सभी ने आठ बजे भोजन किया—मध्य रात्रि को भाँवर पड़ीं—लता से उसका विवाह हो गया। उसके बारात सहित द्वार पर आने पर लता ने उसके गले में पुष्प-माल डाल दी थी और वह उसके लिए कुछ भी नहीं ला पाया था, चला आया था स्वयं उपहार बन कर। भाँवर के समय किए हुए भारतीय-संकल्प उसके हृद्-गगन में, भाव-तितली बन इधर-उधर क्षण-

प्रतिक्षण ही मँडरा रहे थे। लता पाकर था मुदित श्री। इस विवाह में मौसी-भूषण ने भी अत्यधिक भाग-दौड़ की।

... ...

दस जुलाई को प्रातः अन्य रस्में पूरी कर, भोजन कर, लता सहित वह और बारात अवनीश-निवास पर पहुँची। द्वार पर माई-भाभी--उनकी अन्य बहिनों—गुणवती ने उसका और लता का स्वागत किया। उन दोनों ने सभी के चरण-स्पर्श किए। अन्तरंग—मीत—बन्धु 'त्यागी' जी भी पत्नी-बच्चों सहित आज ही आ गए थे।

रात्रि को लगभग ग्यारह बजे माई-भाभी की विशेष आज्ञा से उसने लता के कमरे में प्रवेश किया—उस कमरे में—जो कि मकान-मालिक के स्वयं रहने का था, इस समय इस आयोजन के लिए मिल गया था। सभी ओर से बन्द ही था, केवल द्वार एक था उसमें। कमरे में प्रवेश कर देखा उसने एक दीपक टिमटिमाता, लता घूँघट में, जमीन पर बिछा गद्दा और उसी के द्वारा शरीर से उतारकर बिस्तर ही पर पड़े हुए वे जेवर ही, जिन्हें कि बसन्तीलालजी—अवनीशजी ने अपना गौरव दिखाने-सुनाने के लिए अपनी सबसे छोटी बहू को प्रदान किए थे। उसने लता से अनुरोध किया बोलने का, घूँघट हटाया तब बोली वह। संकोचवश द्वार बन्द कर लेने से कमरे में ग्रीष्म के कारण अत्यधिक जी घबरा रहा था। प्रथम मिलन था इसी से ही, फिर भी वे थे मुस्कराते। चार बजे तक वह इसी कमरे में रहा—कई विषयों की चर्चा हुई। आश्चर्य की बात थी यह कि वह इन पाँच घन्टों में लता से अपने विषय में सभी कुछ कह गया....पर वह थी मौन—एकदम मौन। कमरे से बाहर निकलने के पूर्व कहा उसने—'चाहता तो यह—मेरी ही भाँति आप भी एक साधना- दीप जलाएँ... और यदि ऐसा न कर सकें तो मेरे साधना-पथ में कभी भी बाधा न पहुँचाएँ। कर सकीं ऐसा, सौभाग्य समझूँगा सदा ही।'

वह बोली—'आप भी सभी की भाँति मुझे चरित्रहीन—आवारा तो नहीं समझते हैं? यदि समझते हों—तो कृपया मुझ अपवित्र को स्पर्श न कीजिए!'

वह उसकी यह बात सुनते ही अत्यधिक दुखी हो गया। बोला फिर भी—'ऐसा समझने की भावना-उत्पत्ति भी यदि कभी हुई तो उससे पूर्व ही अपनी जीवन-बाती बुझा देना अधिक उपयुक्त समझूँगा' और इतना कहते ही कमरे से बाहर निकल आया।

... ...

जब से विवाह कर घर लौटा है वह—अनुभव हो रहा है उसे यह कि उससे—लता से अवनीश दादा, भाभी, उनके बड़े भय्याजी, दो नन्हीं बहनें, गुणवती बोलते नहीं—न खाने-पीने—किसी भी बात के लिए वार्तालाप ही करते हैं। क्षण में सब परिवर्तित लगते। स्थापित होने वाली इस उपेक्षा-पृष्ठ-भूमि की नींव को अपने ही समक्ष सहर्ष स्थापित होते हुए देख रहा वह। मन अपना मामाजी—'त्यागी'जी से भाँति-भाँति विषयों की चर्चा कर बहला तो रहा है, पर वह किसी भावी-घटित होने वाली दुर्घटना—आशंका से मन-ही-मन अत्यधिक बोझिल—पीड़ित ही है। लता के समीप माईं और हैं ममतामयी 'त्यागी'जी की श्रीमतीजी—उन्हीं के बच्चे मन्जु-सरिता-सुन्ना इत्यादि। शेष सभी ऊपर चौके में किसी आगामी योजना को बनाने में तल्लीन दृष्टिगोचर होते हैं। बसन्तीलालजी—मामाजी—श्रीपाल बारात सहित उसे घर द्वार तक छोड़ कर, चल दिए निज निवास ही पर। निराली बात है यह कि घर में आई हुई तीन दिवसीय नई बहू लता को अन्य कमरे होने पर भी भाभी—गुणवती ने उसे उस गेलरी में बैठा रखा है—जहाँ कि सड़क चलता प्रत्येक राहगीर फिल्म की किसी अभिनेत्री की भाँति उसे अनेकों बार निरख-परख रहा है। सम्पूर्ण जीवन ही उपेक्षा-द्वारों से क्षण-प्रतिक्षण ही दूर—निरन्तर दूर रहने-बहने वाले उसके भावुक हृदय को यह सभी कुछ देख, वेदना मिली असीम ही, इतनी असीम कि उसकी कटु स्मृति को कभी एक क्षण के लिए भी बिसार पाना...कभी न सम्भव—सदा असम्भव।

: १४ :

रात्रि के लगभग ग्यारह बजे हैं। लता 'त्यागी'जी की श्रीमतीजी से वार्तालाप कर रही है। श्रीमती 'त्यागी'जी ने इस समय जीवन को अपने ही समीप बैठा लिया है,इसी से ही है विराजित। देख रहा वह—अवनीश दादा की नन्हीं साली—मुन्नी लता से वार्तालाप कर उसे लज्जित कर रही है। कह रही है वह—'तुम्हारा पति तुमसे भी कम पढ़ा-लिखा है—शादी कैसे कर ली ? दोनों में निभ भी सकेगी ?'

नम्रता से दिया उत्तर लता ने—'कलाकार की पढ़ाई-लिखाई उसी के द्वारा निर्मित कला की है - उपाधि-पत्र नहीं।'

मुन्नी यह सुन तमक उठी और चीखती हुई ऊपर पहुँची अपने बड़े भय्याजी—बहिन—अवनीशजी की श्रीमतीजी के समीप ही। ऊपर जाकर बोली वह—'जिज्जी ! लता मेरा अपमान कर रही है—मुझे गालियाँ दे रही है !'

मुन्नी की जिज्जी जीवन को सम्बोधित कर कर्कश-स्वर में बोलीं—'हरामजादा बदचलन—चरित्रहीन लड़की विवाह लाया है। यहाँ किसी से मुँहजोरी की तो मुँह झुलस दूँगी।'

उसकी पूर्व ही की गई उपेक्षा-आशंका की पूर्ति हुई। लता—'त्यागी'जी की जीवन-सहचरी मौन ही थी। उसका मानव यह दानवी-स्वर सुन एक ही क्षण में चौंक गया। गरज बोला वह अपनी भाभी ही

से— 'भाभी ! मेरी पत्नी कैसी है—इसकी मैं अन्त तक किसी भी पारिवारिक से सफ़ाई नहीं चाहता हूँ । अपने होते हुए उसका अपमान—उपेक्षा में सह नहीं सकता । सब कुछ होने के बाद भी यह न भूलिए कि इस समय वह मेरी जीवन-सहचरी है । कुँवारेपन में सभी ने उसे चरित्रहीन कहा—अब जो भी यह सम्बोधन अर्पित करेगा—मैं उस आत्मा के जीवित ही चार टुकड़े कर दूँगा !'

हो-हल्ला ऐसा मचा कि मकान-मालिक-चाँदनी पर सोए हुए मामाजी—अवनीश दादा—'त्यागी' जी भी उठ उन सभी के समीप आ गए । अवनीशजी उसकी कुछ सुनने ही को तय्यार नहीं थे । अपनी पत्नी-साले-साली का पक्ष लेकर जीवन की ओर गरजे-बरसे वे—'मेरी पत्नी के टुकड़े कर दोगे ?'

बोला वह—'अवश्य—यदि वे लता को चरित्रहीन कहेंगी तो !'

झगड़ा बढ़ता ही गया । मामाजी-'त्यागी'जी ने सान्त्वना प्रदान की—प्राण बचाए इस अमानवीय रोग से—शोक से ।

अपने ही साथ वे उसे चाँदनी पर ले गए और अन्त तक धैर्य प्रदान कर सुला दिया । वह सोया नहीं—होने वाली घटनाओं का क्रम-भ्रम उसके मस्तिष्क में इधर-उधर डोलता ही रहा । उसे तीव्र ज्वर था—गगन-प्रकृति-आँक-झाँक प्रातः कर दी । इस समय श्रीपाल भी था साथ ही—सो रहा था चाँदनी पर ।

... ...

तेरह जुलाई है आज । लता की विदा कराने के लिए उसी के बहनोई रामगोपालजी आए हुए हैं । अवनीश ने रुखाई बताते हुए कहा उनसे—'सुबह ही से आ गए आप ? कुछ समय पश्चात् आइयेगा !' रामगोपालजी अवस्था में अवनीशजी से बड़े थे, इसी से अपना अपमान न सह सके, चल दिए निज राह ही पर ।

ग्यारह बजे विदा के लिए लता का अनुज हरीश आया...उसे भी अवनीशजी-भाभी—उनकी बहिनों की कम झिड़कियाँ नहीं सहना पड़ीं

—जब तक रहा वह, वाक्य-बौछार उस पर होती ही रहीं निरन्तर। सरल-तरल चौदह वर्षीय सुकुमार सिसक-हिचक रोने लगा। किसी ने उसके आँसू नहीं पोंछे। जीवन दूर बैठा स्वयं रो रहा था—अवनीश-कवि-छवि का रसास्वादन कर।

अवनीशजी ने स्वयं दिए हुए सोने के जेवर—दो चूड़ियाँ, एक अँगूठी, दो कान के टोप्स, गले की कण्ठी-जंजीर, एक सिल्कन धोती, एक पोलका—वसन्तीलालजी-द्वारा अर्पित बजट्टी एक-वजन चार तोले की—एक पूना की लगभग बीस रुपयों की, बारह चाँदी के लच्छे पैर के लिए—वजन इकतीस तोले और एक जोड़ पायल—एक अन्य वस्तु—वजन पचहत्तर तोले से अधिक नहीं—एक साड़ी, एक पोलके की लिखित-रसीद लता से प्राप्त की और इस प्रकार उसका भीषण अपमान कर उक्त समस्त वस्तुएँ उसे दे, उसकी हरीश के साथ विदा कर दी। लता सभी के चरण-स्पर्श कर सिसकती अपने घर की ओर चल दी—अपने नन्हें भय्या के साथ। जीवन को मामाजी—'त्यागी'जी बहला रहे थे—सहला रहे थे।

दुपहर को अवनीशजी ने सभी से आँखें बदल दीं। बोले वे—'मुझे नौकरी पर जाना है—खाली कीजिए कुटिया मेरी।'

मामाजी-'त्यागी'जी यह रंग-परिवर्तन देख अपना-अपना सामान सुरक्षित कर जाने की तय्यारी करने लगे—सामान ले घर से बाहर आए। ठीक इसी समय भाभी ने जीवन का भी सामान कपड़े-सन्दूक अपना रूप क्षण ही में परिवर्तित कर घर से बाहर चीख-चीख कर फेंक दिए। अवनीशजी आए शोच से और अपनी श्रीमतीजी के स्वरों में अपने स्वरों को साधते हुए बोले यह कि—'मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। आज से अपनी दृष्टि में मुझे और अपनी भाभी को अपने लिए मरा हुआ ही समझो। हम जीएँ—मरें, हमारे दरवाजे सम्पूर्ण जीवन ही आने-जाने-छाने की आवश्यकता नहीं।

भाभी सारा मुहल्ला एकत्रित कर उसे सम्बोधित कर चीख़ रही थीं—'मामा-माईं ! इस कमीने को अपने ही साथ ले जाइए, मेरे यहाँ अब इसके लिए कोई स्थान नहीं।'

मामा-माईं ने अपने ही साथ उसका भी सामान उठाया और अपने ही साथ चलने का धैर्य प्रदान किया। मामा-माईं के साथ अवनीश दादा और भाभी से पूर्ण अपमान-तिरस्कार—भीषण उपेक्षा प्राप्त होने के बाद भी जीवन अपनी भाभी के चरणों में अपना सिर रख क्षमा-याचना करने लगा। भाभी नहीं पिघली—उसका सिर उन्होंने अलग कर दिया—पूँजीवादी बातें-घातें ही साथ थीं उनके। वह आँसू-दरिया बहाता हुआ मामा-माईं के साथ नाना-नानी निवास पहुँचा सुरक्षित ही। वह बेहोश हो गया था। मामा-माईं अपनी छाती से लगाए बैठे थे। अभी भी शहर में दंगे ही चल रहे हैं, घटाटोप भीषण इससे भी।

घर से निकालते समय जीवन को भी लगभग पचहत्तर रुपये अपमान कर अवनीशजी ने दिए और कहा—'मैंने सुना है—तुम अपनी विवाह-आय का हिसाब चाहते हो—यह लो, बसन्तीलालजी-मामाजी द्वारा तुम्हें भेंट रुपए हैं यह।'

: १५ :

दूसरे दिन प्रातः नानाजी के यहाँ हरीश आया और बोला उससे—'जीजाजी ! आपको माताजी ने बुलवाया है। मैं कल आपकी खोज करता रहा...पर मिल न सका !'

समीप ही बैठे हुए मामा-माई' बोले—'जीवन ! तुम्हें अपनी सास से अवश्य ही मिल आना चाहिए। वे तुम्हारी चिन्ता में अधिक चिन्तित ही होंगी।'

उसकी ससुराल नानाजी के घर से बीस मकान दूर ही थी। वह हरीश सहित उसी ओर रवाना हुआ। ज्वर तीव्र इस समय भी था। लता की नन्हीं बहिन शकुन और उसकी सलहज—लता के चचेरे ज्येष्ठ-भ्राता की श्रीमतीजी उसे अपने-अपने व्यवहारों से सान्त्वना प्रदान करने लगीं। उसके अनुरोध पर शकुन ने 'शीशमहल' चित्र का गीत सु-स्वरों में अलापना आरम्भ किया। था वह—

'आदमी वह—जो मुसीबत से परेशान न हो,
कोई मुश्किल नहीं ऐसी कि जो आसान न हो !'

इस उतार-चढ़ाव की मनोदशा में इस गीत ने उसमें नए प्राण संचार किए फिर। वह मुरझाया तनिक खिल गया।

बाद में गीत समाप्त कर शकुन उसे लता तक छोड़ अपने कमरे में जीया—हरीश—चन्द्रेश—कुसुम के पास आ गई।

लता बोली प्रथम बात यह—'आपकी चिन्ता में व्यस्त थी। अवनीश दादा और भाभी ने कल आपका कितना अपमान किया है, ज्ञात हो गया है मुझको भी। मेरे लिए ही यह सब कुछ हुआ है।' बाद में बोली वह लजाते हुए—'कलाकार! आपके पास इस समय कितने रुपये हैं?'

उससे इस समय दुनियायी-प्रश्न ही किया गया फिर भी बोला वह—'क्यों पूछती हो भद्रे?'

'मुझे चाहिए!'

उसने शिमला से लाए हुए—शेष बचे दो सौ रुपये जेब से निकाल लता के हाथ में थमा दिए!

वह लज्जित हो बोली—'मैं ऐसे भीषण क्षणों में आपको कदापि कष्ट न देती। पर क्या करूँ? बसन्तीलालजी—अवनीशजी द्वारा प्राप्त सिल्कन दो धोतियाँ-फ्राकों के अतिरिक्त सदैव पहिनने को मेरे पास वस्त्र नहीं। इन रुपयों से कपड़े बनवा लूँगी, अन्य आवश्यक सामान भी मँगा लूँगी!'

लता की वास्तविक—बेबस बात सुन जीवन गम्भीर हो गया। देखा उसने—लता ने कपड़े—आवश्यक सामान मँगवा लिया था।

... ...

आज बीस जुलाई है। मामा-माई वचनानुसार जीवन और लता को अपने ही साथ-साथ वहाँ ले आए हैं—जहाँ कि इन दिनों वे स्थायी ही रहते हैं। लगभग पाँच दिन उन दोनों के अत्यधिक आनन्द में व्यतीत हुए। अब जीवन के शिमला लौटने की अवधि समीप आ रही है, इसी से वह अपनी ससुराल लता सहित ही लौट रहा है।

... ...

जीवन की ससुराल यह। स्वास्थ्य अपना अत्यधिक डाँवाडोल हो जाने के बाद भी लता सहित शिमला लौट जाना चाहता है वह। सभी ही कहते—'इस समय आप अकेले ही जाओ शिमला...... लता अभी नहीं जा सकेगी।' उसने एकान्त में लता से अपने ही साथ चले चलने की प्रार्थना की, पर उसने भी उसे सभी की भाँति निराश ही कर दिया।

दूसरे दिन ससुराल में भी अपनी उपेक्षा पा वह दो सौ में से बचे पचास रुपये लता ही से ले, पत्र–मनिआर्डर भेजने का वचन दे, शिमला के लिए रवाना हो गया।

: १६ :

शिमला आए उसे एक माह से ऊपर व्यतीत हो गया। जब आया वह—सभी ने उसे बधाइयाँ दीं—पत्र-संचालक-समिति के सदस्य सर्वश्री डॉक्टर परमार, पद्मदेवजी, दौलतरामजी, चिरंजीलालजी, हीरासिंहजी, बड़े परमार महोदय, सीतारामजी, भास्करानन्दजी ने अपने-अपने सन्देश-उपहार भेंट किए। डाक्टर परमार ने तो 'डेविको' होटल में अपनी ही ओर से शानदार दावत भी दी—उसके विवाह-हर्ष ही में। इसमें सभी अँग्रेजी-हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक—अन्य प्रतिष्ठित महानुभाव आए थे—सभी ने उसे बधाइयाँ दीं।

वह लता को पत्र लिखता रहता है। उसके पत्र भी आते हैं—कभी मधुर, कभी उपदेश भरे तड़कीले—भड़कीले—नुकीले। वह पढ़ कर अपने भाग्य को सराहता है। आस्थावान पत्र लिखने पर भी विपरीत ही उत्तर मिलते हैं उसे। वह इसका कारण समझ नहीं पाता है। जब लिखता है—'कब लेने आऊँ ?' उत्तर मिलता है—'आप जल्दी न कीजिए, प्रथम स्वयं रहने की सारी व्यवस्था कर लीजिए—गृहस्थी का सामान एकत्रित कर लीजिए !' कभी लिखती—'दादा अवनीशजी ने मुझे हरे जङ्गल दिखला कर सूखे कण्टकों में छोड़ दिया है, उन्हें लिखिए कि वे आवरण-प्रथा निभाएँ !'

वह इनमें से एक बात भी स्पष्ट समझ नहीं पा रहा था। जानता था यह कि—पत्नी भी इस युग की पति से प्रथम अपनी जीवन-व्यवस्था ही चाहती है, कदम-कदम वेदना-राह साथ साथ ही चलना उसे है अप्रिय ही। वह इस पर भी प्रसन्न ही था। इसी बीच नब्बे रुपये भी भेज चुका था।

... ...

लता की माताजी की स्वीकृति पर एक माह दस दिन बाद वह लता को शिमला ले आया। ज्ञात हुआ है उसे—शिमला से पूर्व ही भेजे हुए नौ पत्रों में से पाँच उसे मिले—चार किसी ने पार कर दिए। इन दोनों के बीच में मतभेद पैदा करने के लिए सभी पारिवारिक-दुनियादार अग्रसर हैं विवाह-क्षणों ही से। शिमला दूर होने से किसी की चलती नहीं। जीवन-लता दोनों 'बालजी होटल' में दोनों समय भोजन करते हैं—दस से पाँच तक पत्र-कार्यालय में कार्य करते हैं—प्रातः-सन्ध्या को इधर-उधर मौज से घूमते हैं—रात्रि को कार्यालय ही में सो जाते हैं और इसी निराली मस्ती-हस्ती में समय व्यतीत हो रहा है यहाँ। दो सौ रुपये माह हाथ-खर्च पाता है वह और इसी में सारे कार्य चल ही जाते हैं। कभी विशेष आवश्यकता पड़ती है तो वर्माजी चम्बा वाले दादा के आदेशानुसार उसे हाथ-खर्च प्रदान कर ही देते हैं—जिसे कि व्यवहारिक दृष्टि से वह कर्ज ही मानता है।

अक्टूबर मास है यह। उष्ण-प्रदेश में जन्म पाने वाला जीवन शिमला की इन दिनों की शीत सह नहीं पा रहा है। इस प्रदेश में प्रथम शीत है उसकी और इसी से वह उस पर अपना अनुपम रङ्ग जमा रही है। सारे दिन पत्र-सम्पादन-कार्य में व्यस्त रहता है वह। यों तो जब से हुआ है विवाह उसका—मन-दरपन टूटा-टूटा-सा, इस-लिए कि उसे कर भद्दे (लता) को अवश्य पाया, पर सब कुछ गँवाया। गँवाया इसलिए मानता है वह कि उसे कम अपमानित नहीं

होना पड़ा—सभी ने कु-वाक्यों की अकेले उसके भावी-गृह-व्यवस्था कर लेने पर भी, अर्थ-कष्ट किसी को भी न देने पर भी झड़ी लगा दी। वह सहम गया। ऐसे अपमान जन्म से आज तक सहने का अभ्यासी नहीं रहा और इसीलिए कंकर की भाँति इधर-उधर अभी तक सभी की ठोकरों में आ रहा है—विचार-परिचय पा रहा है।

सभी कहते हैं—'वह बचपन ही से करता है नशे निरन्तर ही और इसी से सदैव ही उग्रवादी-दल ही का सदस्य बना रहता है।' वह स्वयं झूठ बोलने का अभ्यासी नहीं—विजिया पीना उसे बारह-तेरह वर्ष की अवस्था ही से उसके कृपालु सबसे बड़े भाई बसन्तीलालजी ही ने सिखलाया—इसलिए कि वे आज तक उसका उपयोग करते ही हैं। शराब पीना मामाओं से मिला वरदान है। दोनों वस्तुओं को कभी-कभी समस्त घटित-घटनाओं को भूल जाने के लिए पीता है वह... पर मानता वह—"मैं वह कमज़र्फ नहीं जो कि बहकता जाऊँ!" आज तक कभी भी कहीं कितनी ही मात्रा में पी लेने के बाद भी वह बहका नहीं—चहका अवश्य है—उस पंछी-सा जिसे निरन्तर सब ही मारें, फिर भी जो प्रतिक्षण उड़ता है—भयभीत-सा नहीं, सभी की नगरिया-डगरिया तक परिक्रमा लगा लेने—निरन्तर मार-तिरस्कार पा लेने के बाद भी। सिगरेट—चाय—विजिया—शराब—भोजन का अभ्यास पिछले कुछ वर्षों से छूटता जा रहा है—इसलिए कि इन सब का उपयोग न करने पर भी उसे विचार-शूल उठने पर निरन्तर खून-पेचिश होती है—ज्वर बना रहता है......अत्यधिक अशक्तता आ जाती है।

भद्रे जब से समीप आई है—वह कुछ खाता ही है—न खाने की साध-पूर्ति इसलिए नहीं हो पाती कि कुछ दिन 'बालजी' होटल में खाना खा लेने के पश्चात् भोजन-व्यवस्था पत्र-कार्यालय ही में की गई है। ऊपर पालजी का भोजन दिलाराम भाई के बना लेने के बाद भद्रे

भोजन बनाती है—जीवन नहीं खाए तो वह भी नहीं खाती है। दोनों साथ-साथ ही पकाते-खाते, लिखते-लिखाते, पढ़ते-पढ़ाते हैं।

पत्र-संचालक-समिति के समस्त हिमाचली-सदस्य हिमाचल-छवि हैं पर पत्र-प्रीति-रीति-नीति को व्यवहारिक स्पष्ट करने वाले सस्था वाले दादा के अतिरिक्त कोई नहीं। न प्रान्तीय ठीक-ठीक समाचार ही आते हैं—न वह हिमाचल के—समस्त हिमाचल के समस्त, देश-विदेश के पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन कर लेने के बाद भी सुख-दुःख ही जानता है। जो कुछ स्वयं अनुभव करता है—तीखी सम्पादकीय-टिप्पणियों में लिखने बैठ जाता है। पत्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का है फिर भी वह दो टूक कलम चलाता है—किसी से भय नहीं खाता। 'बच्चन' जी ने पत्र पर आशीर्वाद देते हुए उसे लिखा था कि—'हिमाचल में हिन्दी-लेखक पैदा कर सको तो हो अति उत्तम।' उसे यह बात भायी। वह हिन्दी-बिन्दी-प्रान्त-देश—समस्त धरा के भाई-बहिनों के भाल पर सदैव ही की भाँति लगी देखने के लिए अत्य-धिक लालायित हो गया। पत्रकारी-स्वभाव है उसका यह कि वह दूसरों के आदेश-उपदेश पर अपनी कलम चलाता नहीं—घटना-स्थल पर स्वयं पहुँचता है—जो कुछ देखता है—उचित-अनुचित का निर्णय कर लिखता है और न डरता कभी किसी से। कमेटी के संचालकों से कह दिया है उसने— 'मैं अन्याय के लिए अपने पिता से भी अन्त तक संघर्ष करने वाले पुत्रों में से एक हूँ।' कांग्रेस की आलोचना तीखी आया तभी से तीन-चार बार उन्हीं के—उसके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित होने वाले पत्र में करने का परिणाम निकला यह कि कोई कुछ सोचता, कोई कुछ। वह पत्नी सहित रहता था, पर कार्यालय के एक कमरे ही में। कोई रहने की भी व्यवस्था न कर सका। कुल कमरे चार-पाँच। दो-तीन में प्रेस—मशीन—टाइप, दो-तीन में पालजी, प्रेस-व्यवस्थापक परशुरामजी, दिलारामजी और वे दोनों। यह ज्ञात

हो जाने पर कि उसका शिमला-खर्च चम्बा वाले दादा अपनी ही जेब से देते हैं—यह अविवाहित-जीवन में डेढ़ सौ रुपये लेता रहा और विवाह हो जाने के बाद दो सौ। यों उसे जब भी रुपयों की आवश्यकता पड़ी—वर्माजी ने दिए—दो सौ एक बार चम्बा वाले दादा ने शिमला-मिलन पर भी। आज तक जो कुछ भी उसने पाया है—अपनी मजदूरी के अतिरिक्त सवा माह चम्बा में व्यतीत हुआ—विवाह-भेंट में डाक्टर परमारजी द्वारा 'डेविको' होटल में दी गई दावत, पण्डित पद्मदेवजी द्वारा भद्रे की दावत—ग्यारह रुपये, भास्करानन्दजी द्वारा ऊनी शाल, सीतारामजी शर्मा द्वारा दस रुपये और दस रुपये पालजी द्वारा ही।

हिमाचल-चुनाव समीप आ गए। उसे आगे का कार्यक्रम कोई एक बतलाता नहीं—सभी अपनी-अपनी ही सुनाते हैं और चाहते हैं यह कि वही पत्र में उसी समय छप जाए। चम्बा वाले दादा स्वयं पाँगी में चुनाव में खड़े होने से प्रवास में व्यस्त हैं। पत्र में 'हिमाचल-प्रदर्शन'— लेख-माला भी अब वे नियमित नहीं लिख पाते। जब तक लिखी यह—लगी अति मनभावन ही। जिन महानुभावों के समीप उसका जीवन व्यतीत हो पा रहा था—वे सभी कर्मनिष्ठ-भावुक-मस्त-मौजी—अलबेले महानुभाव ही थे—दोष था केवल एक ही कि सभी संगठित नहीं थे। वर्माजी—पालजी के अतिरिक्त कोई प्रेस-पत्र-व्यवस्था की ओर आँकता-झाँकता तक नहीं। वेतन जब भी प्रेस-कर्मचारियों को प्राप्त होता है—विलम्ब ही से—देते हैं वर्माजी। 'लेखकों का आठ माह निरन्तर उनका रक्त-शोषण कर आठ पाई भी अभी तक नहीं भेज पाया वह। चित्रकारों से उनकी कला-कृति पूर्व ही बनवा लेने के बाद भी—उसकी स्वीकृति दे देने के बाद भी, निरन्तर सर्मा से कहने पर पाँच माह बाद अब साठ रुपये भेज पाया है वह। अपनी पेट-पूजा के लिए अन्य कलाकारों का शोषण करना उसे अब अधिक रुलाता ही

है। वह निरन्तर पत्र ही में संचालकों को संकेत कर लिखता है कि लेखकों को उनके श्रम-क्रम का उचित पारिश्रमिक दिया जाए, पर न सुनता है कोई भी, वह दुखित रहता इसी से।

शीत सहन नहीं होती इसी से सारे दिन परिश्रम करने के बाद थोड़ी-सी शराब पीता है वह—खाना खाता है—कभी शिमला स्टुडिओ के प्रमुख कार्यकर्ता—इन्दौरी-बन्धु-मीत प्रकाशजी के यहाँ भद्र सहित चला जाता है—कभी माल रोड पर श्री राजेन्द्रजी, पुरुषोत्तमकुमारजी, गोस्वामीजी और अन्य आत्माओं से मिलता है—खिलता है। सभी उससे अत्यधिक स्नेह ही करते हैं।

दशहरे के दिन राजेन्द्रजी—उनकी श्रीमतीजी-जीवन-भद्र का डॉक्टर परमार महोदय के यहाँ से भोजन के लिए निमंत्रण आया। वे चारों साथ-ही-साथ उनके यहाँ पहुँचे, सभी पारिवारिक सदस्यों के साथ अत्यधिक आनन्द से सभी ने भोजन किया—कई विषयों की चर्चाएँ हुईं

इतने अपमान-उपहार पा लेने के बाद भी अवनीश दादा को लिखा उसने—'हृदयवादी चाँदी से बाँदी बनना स्वप्न में भी पसन्द नहीं करते हैं और इसीलिए कृपया मुझे मेरे विवाह-खर्च की तालिका लिख अपने रुपये प्राप्त कर लीजिए। मैं मनुजता का उपासक, मनुजता ही चाहता हूँ और वह परिवार के आधुनिक महानुभावों से आज तक प्राप्त न हो सकी।' पत्र का उत्तर आया पर इस विषय में अवनीशजी उसे कुछ लिख ही न सके।

राघवेन्द्र दादा का दुखद देहावसान हुए लगभग दस वर्ष व्यतीत हो गए। उनका दिया हुआ अन्तिम आदेश अभी तक नहीं भुला सका है वह। कह गए थे वे—'अपना विनाश चाहो तो कभी अवनीश का विश्वास करना, वह विश्वासघाती है।' यह बात राघवेन्द्र दादा ने अपनी मृत्यु के चार माह पूर्व बसन्ती-निवास ही में कही थी।

ऐसा उस संत-आत्मा ने उस समय क्यों कहा—यह जीवन भली-भाँति जानता-मानता था, पर बचपन ही से अनुभव-अध्ययन का विद्यार्थी होने के कारण ही, राघवेन्द्र दादा का आदेश होने पर भी, अवनीश दादा का विश्वास स्वार्थ से परे होने के बाद भी करता रहा। अनुभव हुए जितने—देह उसी से लड़खड़ाई। राघवेन्द्रजी को भी अवनीशजी से मिली कचोट थी यह कि जिनसे वे अपना पाणिग्रहण करना चाहते थे—उन्हीं से उन्हीं के समक्ष अवनीशजी ने यह बात भली-भाँति जानते हुए भी अपना विवाह कर लिया था।

विवाह के चार दिन बाद ही लता ने उससे मुस्कराते हुए कहा था—'मुझे विवाह का 'डिप्लोमा' (प्रमाण-पत्र) चाहिये था और वह अब प्राप्त हो ही गया।' वह इस बात का ठीक-ठीक अभिप्राय तब भी समझ गया था, अब भी समझ रहा है यह कि लता को भी प्रमाण-पत्र मिल गया और अवनीशजी को भी कि—'मैंने ही जीवन का विवाह किया।' इन दोनों की साध प्रमाण-पत्र पाने की ही थी और वह इन्हें प्राप्त हो ही गये। वह दोनों को प्रमाण-पत्र दिला, था मुदित ही।

जब से लता उसके समीप आई है—वह उसे समझाता रहता है कि सदैव ही जीवन इतनी गम्भीरता से व्यतीत करो, दुख न कभी हो। अविवाहित जीवन में समाज ने उस पर उँगली क्यों उठाई, इसके कारण भी वह यही मानता है कि अपनी माताजी के आदेश पर वह अपने पिताजी के देहावसान के पश्चात् अधम व्यक्तियों के साथ-साथ इधर-उधर मँडराई। कभी सेठजी के यहाँ अकेली पढ़ाने गई, कभी अन्य शहरों में अपने गायकाचार्य गुरुजी के साथ मंच पर गाने-नाचने। घर पर भी एक नहीं—अनेकों तरुण पढ़ाने—बात बनाने आते—वह उनमें डूबी ही रहती और यही कारण थे कि सारा शहर उसे आवारा-चरित्रहीन कहने का साहस भी कर सका था। चरित्रहीन उसे सर्व-प्रथम तो उसी के परिचित वे ही व्यक्ति कहा करते थे—जिनके कि घर

आने पर उसकी माताजी उन्हें इज्जत से चाय पिलाती थीं, अपने यहाँ बैठाती थीं। आश्चर्य की बात यह कि जीवन के विवाह-स्वीकृति देने के पूर्व ही मौसी—अवनीश—भूषण—उसके कुछ बहनोई लता को निरन्तर एक ही स्वर में चरित्रहीन—आवारा कहा करते थे और इसके बाद भी वह—परिवार के समस्त सदस्य इन सभी के यहाँ आया-जाया करते थे, साथ-साथ हँसते-हँसाते थे—खाते थे-पीते थे।

...   .

अभी-अभी ज्ञात हुआ है मामाजी के पत्र से कि नानाजी का देहावसान हो गया। दूसरे पत्र से ज्ञात हुआ कि मालव विद्यापीठ—साहित्यकार-संसद, इन्दौर साहित्य-वाचस्पति पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के अभिनन्दनार्थ २०-२१ अक्टूबर को एक विशाल आयोजन कर रही है। इसमें आने के लिए श्री पुरोहितजी—श्यामसुन्दरजी ने जीवन को भी लिखा था। स्वास्थ्य ठीक न रहने से उसने अपनी सास को भी पत्र लिखा था कि 'कृपया मेरे आने से पूर्व ही रहने के लिए किराए के मकान की व्यवस्था कर दीजिएगा।' उत्तर आया है उनका भी—'जिसमें हम रहते हैं—इसे अपना ही समझिए—आइए—रहिए— मैं बराँडे ही में पड़ी रहूँगी।'

जब वर्माजी से अपने लिए उसने स्पष्ट विचार-परामर्श किया तो बोले वे—'आप अपनी जन्म-भूमि ही से पत्र-सम्पादन करते रहिए—सामग्री भेजते रहिए...मैं फरवरी तक आपको वहीं आपका हाथ खर्च भेजता रहूँगा—शीत समाप्त होने पर पुनः इधर आ जाइएगा!'

: १७ :

जीवन तीन सौ रुपये वर्माजी से ले इन्दौर के लिए भद्रे सहित रवाना हो गया—'एक भारतीय आत्मा'—अभिनन्दन-समारोह में सम्मिलित हुआ और इसके बाद फिर अपनी ही जन्म-भूमि में पहुँच ससुराल में रहने लगा। एक माह ससुराल अपने ही समस्त खर्च कर रहा पर एक दिन कोई भी अपराध न होने पर भी उसकी सास केवल अपनी ही पुत्री का पक्ष लेते हुए उससे बोलीं—'लल्ला! तुम्हारा तो कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, मेरी लड़की तुम्हारे त्रासों से कुछ खाकर मर जाएगी।'

उनकी यह वाक्य-कड़ियाँ-छड़ियाँ सुन वह सुन्न पड़ गया। लगा उसे यह कि शिमला से आकर लता ही ने मेरे विपरीत अपनी माँ के कान भरे हैं और इसीलिए केवल उसकी माताजी ही नहीं—सभी पारिवारिक उसका निरन्तर ही अपमान कर रहे हैं। वह इस अपमान-धक्के से अधिक पीड़ित हो गया—अलग अपने ही जन्म-निवास के समीप मित्र मेहताजी द्वारा बतलाए हुए छबीलचन्दजी के मकान में बारह रुपये माह पर भद्रे सहित २४ नवम्बर ही से रहने लगा। मनोदशा उसकी सभी कुटुम्बियों के कुटिल व्यवहारों से इतनी अधिक बिगड़ गई कि शीतकाल होने पर भी उसे पेचिश हुई ऐसी कि वह मरणासन्न हो गया। सभी थे वहीं—पर उसकी दवाई पड़ौसी गुजराती बन्धु

विलासजी शाह ही लाते थे। पारिवारिक सदस्य उसकी मृत्यु-प्रतीक्षा कर रहे थे। वैद्य रमणलालजी ने उसका इलाज किया—वह मरा नहीं, बच गया।

दिसम्बर में ज्ञात हुआ उसे—लता गर्भ से है। वह इस विषय की व्यवस्था का ज्ञान नहीं रखता था इसीलिए अधिक घबड़ाया। सात माह होने आए—उसके अतिरिक्त लता का कोई भी पारिवारिक सहयोगी नहीं बन सका—सभी ने आँखें फेर लीं। इस बीच नानीजी का भी देहान्त हो चुका था।

लता रूपवती-गुणवती—साहित्यिक—संगीत-उपासिका है पर भाषा उसकी स्थिर नहीं। तनिक कुछ भी समझाने पर वह भयंकर क्लेश करती है—चीखती-रोती है इस ढंग से कि सभी पड़ौसी उसका पक्ष ले जीवन को अपमानित करने आ जाते हैं—मकान खाली करा लिया जाएगा यह स्वर सुनाते हैं। लता गर्भ में है पर उसका गरजना-बरसना एक-दो दिन नहीं —निरन्तर ही चल रहा है—उसे एकाकी समझ दम्भ से दल रहा है। इसका एकमात्र कारण है यही कि उसकी माताजी-भाई-बहिन उसके यहाँ बिन बुलाए ही आते हैं—जीवन के घर न होने पर उसके कान भर जाते हैं और फिर अपनी ही विजय पर सभी मुसकराते हैं। सारे शहर में उसकी बदनामी हो रही है कि वह लता को मारता है—सताता है। सच तो है यह कि इसी पीड़ा में वह जलाने की लकड़ी अपने सिर पर दे मारता है—कभी दीवार से सिर टकराता है—जख्म हो गए हैं—घन्टे-दो-घन्टे नहीं, सदैव रोता ही रहता है। सभी उसे पागल-घायल बनाने ही की धुन में दिखाई देते हैं। वह जीवन से ऊब गया है।

बिन बुलाए ही अवनीश दादा कभी-कभी घर आते हैं—बैठते ही लता को गर्भवती देखने के पश्चात् भी कहते हैं—'बहू को अध्यापिका बनवा दो!' कभी कुछ कहते हैं, कभी कुछ—मतलब यह कि इन

दोनों को सान्त्वना देना तो रहा दूर, सदैव अपनी वाक्य-कटुता-पटुता से रुलाते ही हैं। अलग जब मकान लिया था उसने—उसकी अधूरी निद्रावस्था में लता से आकर बोले थे वे—'आवश्यक सामान की फहरिस्त बना दो—मैं ला दूँगा।'

वह अधूरी नींद में था इसीलिए दोनों की बातें सुन रहा था। लता कह रही थी—'कलाकार को जगा लीजिए!' उसे अवनीशजी ने जगाया—उसने आँखें खोलीं तो देखा कि लता फहरिश्त लिख रही थी। वह तमक कर बोला—'जिस लड़की को आप सदैव ही विवाह-पूर्व चरित्रहीन कहा करते थे—अब उसके समीप सहानुभूति प्रदर्शित करने आखिर आते हैं क्यों? बुलाता है कौन? मुझे दिखावटी इन बातों से घृणा ही है। आप सभी बातों की लिखित रसीदें ही लता से क्यों माँगते हैं? कृपया अब तो जीने दीजिए...हमारे प्राणों का इस प्रकार से अन्त क्यों करा रहे हैं?' यह सब कुछ सुन वे सकपकाए, चल दिए निज राह ही पर।

उसकी सास—बसन्तीलालजी—अवनीशजी ने उससे कहा—'बहू की गोदी भरना है, इस विषय में तुम्हारी क्या राय है?'

कहा उसने—'गोद भरने की चिन्ता अन्य किसी को करने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ करना होगा—मैं स्वयं ही कर लूँगा।'

इसके बाद भी लता की स्वीकृति पर शकुन-गुणवती उसकी गोदी भरने आए—अवनीशजी के यहाँ से नायन थाली लाई, वह गम्भीर हो सभी कुछ देखता ही रहा।

यही बात नहीं है कि केवल लता उस ही से सदैव लड़ती रहती है। बात है यह कि प्रथम वह उस पर अपशब्दों की बौछार करती है और उसी के बाद उसके मौन न होने पर वह भी चीखता-चिल्लाता है ऐसा कि सभी समझने लगते हैं कि वे दोनों अत्यधिक झगड़ रहे हैं।

झगड़े कदापि न हों...पर लता का हठी होना और जीवन का सहन-शील न होना ही इसके मूल कारण हैं।

शिमला से आने के बाद वर्माजी ने एक पैसा भी नहीं भेजा। पत्र नवम्बर तक उसे उसका नाम छपा मिलता रहा, बाद में कभी दिखा न वह। हिसाब में निकलते अपने चार सौ पचास रुपयों के लिए उसने चम्बा वाले दादा और वर्माजी को कई बार लिखा, पर न मिल पाए अभी तक।

हर्ष की—अत्यधिक हर्ष की बात है यह कि ईश्वर की अनुकम्पा से १२ अप्रैल को अवनीश दादा के यहाँ लम्बी प्रतीक्षा के बाद सुपुत्री का जन्म हुआ है और शकुन का शुभ-विवाह भी १८ मई ही को मन्द-सौर-निवासी श्री जगदीशनारायण से सम्पन्न हो गया।

लता के परिवार से तो उसने दहेज नहीं लिया था—भूल हुई थी यही कि बसन्तीलालजी—अवनीशजी ने जो जेवर लता को उपहार-स्वरूप दिए थे, वह उन्हें स्वीकार कर चुकी थी और इसीलिए उक्त दोनों महानुभाव अपने कुल आठ सौ रुपयों के जेवरों के लिए अलाप रहे थे—'जीवन के विवाह में लगभग चार-पाँच हजार रुपये खर्च हो गए!' वह सभी से सभी कुछ सुनता है और अपने ही भाइयों की पूँजीवादी-वृत्ति का अध्ययन कर, लाता है निज आँखें भर-भर।

जिस मकान में वह किराए से रहता है—प्रारम्भ ही में उसके अध्यक्ष ने उससे कहा था—'इस मकान में आपके आने से पूर्व छः बार चोरी हो गई। कृपया जेवर-कपड़े हों तो सुरक्षित ही रखिएगा!' और इसीलिए स्थानीय-सराफ श्री तेजकरनजी के यहाँ लता के समस्त जेवर उसने छः सौ रुपये में गिरवी रख दिए थे—सात रुपये माह ब्याज देता था। लता और उसके बीच यह जेवर ही सर्प बना हुआ था। वे दोनों चाहते थे कि इसे लौटा दें...पर अवसर की प्रतीक्षा में थे। लता के समीप यह जेवर न देखकर अवनीशजी—मौसी—भूषण

अनुमान लगाते थे यह कि यह सब जीवन ने बेच दिया। बेचने के लिए लता ने भी उसे कई बार समझाया पर कहा उसने—'यदि ऐसा परामर्श न दो तो मैं तुम्हारा आभारी ही रहूँगा। हाँ, जब मैं बनवाऊँ... तुम एक ही क्षण में नष्ट कर देना, इन पर हमारा अधिकार है ही नहीं।' हाँ, आर्थिक-कष्ट आने पर इन्हीं के द्वारा वह तेजकरनजी ही से कर्ज अवश्य ले आया था।

लता को लेकर वह अपने बड़े मामाजी–भाई'जी के समीप भी इसीलिए पहुँचा कि जब तक उसका जापा न हो जाए—तब तक अपने ही समीप रख लें और उससे खर्च सौ रुपये माह लेते रहें। खेद है कि उनने भी लता को रखना स्वीकार नहीं किया। गए थे जैसे, और आए वे।

इसी बीच उसे लता की मौसी के भी दर्शन हो गए थे। वे उसी शहर ही में रहती थीं—जहाँ कि शकुन की ससुराल भी थी। जाते समय वे लता और जीवन से कह गई थीं—'मेरी आवश्यकता जब भी पड़ेगी, मैं पत्र मिलते ही आ जाऊँगी!' इन क्षणों में उसे उन्हीं की एकमात्र याद आई। भय्या जगदीश को लिखा उसने—'कृपया मौसी को मेरे पास छोड़ जाइए!' जगदीश भाई मौसी को छोड़ गए। डोल-ग्यारस को प्रसूति-गृह में लता ने पुत्री को जन्म दिया। मौसी ने सभी कार्य सावधानी से सम्भाले। पुत्री-जन्म के दो माह बाद मौसी फिर मन्दसौर लौट गईं।

वर्षों पूर्व साप्ताहिक 'जनार्दन' में लिखा था उसने—'दौलत की वह चादर कभी भी मत ओढ़ो, जो अपनों के—सपनों के रक्त से रँगी हुई हो।' यह वाक्य लिखने के बाद भी परिस्थिति आई यह कि पिता-जन्मभूमि की जमीन खेती न करने से संकट से घिर गई—बिकी—बसन्तीलालजी—मथुरा वाली मझली भौजी–अवनीशजी और उसे

अपने-अपने हिस्से के दो हजार रुपये मिले । इसके बाद शिमला में आने पर आर्थिक-कष्ट होने के कारण उसने अपनी ही जन्मभूमि की जमीन कानूनन बसन्तीलालजी से ली तो देखा कि खाते में मझली भौजी का नाम मालकिन के स्थान पर था ही नहीं । अवनीश दादा सम्पूर्ण पैतृक-सम्पत्ति का लिखित-त्याग कर चुके थे । जमीन उसने संचालक बसन्तीलाल से ली—उन्हीं के आदेश पर उन्हीं के आसामी रामू को बेच दी तीन हजार में और रुपये पूरे वर्ष में सैकड़ों बार अपमानित हो तितर-बितर पाए ऐसे कि सभी उड़ गए । जमीन लेने से पूर्व बसन्तीलालजी—रसिकबहादुर—श्रीपाल सभी से उसके भयंकर झगड़े हुए ।

दूसरा अपराध उससे अनजाने ही हुआ यह कि वह सिकन्दरा-राऊ—हाथरस से मोटर में आगरा ३ अगस्त को जा रहा था तो सन्दूक ही चोरी चला गया । इसमें उसकी कई अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के साथ-साथ अहिल शैल-रचित गीत-संग्रह की पाण्डुलिपि भी थी—जो कि उसके पास प्रकाशनार्थ आई थी । सो इसे वह हो गया है अधिक लज्जित ।

अचानक असीम वेदना के साथ लता ने एक दिन जीवन से कहा—'कलाकार ! मैं अवस्था में आपसे लगभग ग्यारह वर्ष छोटी ही हूँ और इसीलिए मेरे अनुभव भी हैं अभी छोटे ही । अचानक अपराध हो जाया करें तो यही मान कृपया मुझे क्षमा कर दिया करें !'

उक्त बात उसे प्रिय लगी और इसीलिए मौनता को उसने निज सहचरी बना लिया है । लता कभी कुछ अनावश्यक बोल भी जाती है तो वह गम्भीर ही बना रहता है और इसी से अब आपस में झगड़े होते ही नहीं ।

जब वह अधिक दुखी होता है तो उसे अपने माता—पिता—ससुर—राघवेन्द्र दादा—बुआ—भाभी—मझली भौजी मथुरा वाली की याद आती है, यही उसके लड़खड़ाए कदम आगे बढ़ाती है ।

सभी पारिवारिक कहते हैं कि वह एक ही क्षण में उत्तेजित हो उठता है और इसीलिए उसका विनाश भी निरन्तर ही हो रहा है। निवेदन उसका—'मनुष्य तभी उत्तेजित हो उठता है—जब कि उसका मानसिक—शारीरिक—आर्थिक-संतुलन इधर-से-उधर होने लगता है।' वह स्वयं कभी मन से कहीं उत्तेजित नहीं हुआ—किया एक नहीं—अनेक आत्माओं ही ने—स्वयं स्वार्थवश ही।

सु-प्रसिद्ध—सु-समालोचक पण्डित शान्तिप्रियजी द्विवेदी के कथनानुसार जन्म ही से वह—'कभी आय-आयु पर विचार करता ही नहीं!'

प्रारम्भ ही से किसी भी पुस्तक के सर्वाधिकार प्रकाशकों को न देने से उस पर अनेकों घटाएँ आईं-छाईं। वह अब तक ना हार सका है और यही कारण है कि जितना भी लिख पाया है—छप नहीं पाता। कई पुस्तकें स्वयं छपाईं कर्ज ले। निज प्रान्त से बाहर के सम्मान सहित गईं। मुद्रणालय की भड़ास जन्म ही से प्रेरित की स्वर्गीय राघवेन्द्र दादा ही ने और इसीलिए वह उसका बचपन ही से वह राहगीर भी बन गया है—जो जले निशि-दिन, पर चले! छपाता पुस्तकें मेवा पाने-खाने के लिए नहीं—इसलिए कि वे उसे जनता-जनार्दन के कर-कमलों तक पहुँचाने के लेखक-कर्त्तव्य को क्षण-प्रतिक्षण ही झकझोरती हैं—उसी ओर दौड़ती हैं। प्रकाशक उसकी रक्त-दौड़-होड़ को संकुचित परधि में बाँधना चाहते हैं...पर बँध नहीं पातीं—झुक नहीं पातीं।

उसे उसके साहित्यिक नाम से सम्बोधित करने वाली बहिनों के परिचय तो वह पूर्व ही दे चुका है, इस समय उन बहिनों की याद करेगा—जो उसके जन्म-नाम से उसे सम्बोधित करती हैं। हैं वे—नदी वाली जीजी, शान्ति, शारदा, शकुन, सुखदा, आशा, सुशीला, स्वरक्षा और पड़ौसी-मीत-बन्धु-पुरुषोत्तम भाई—विलास भाई की

चार बड़ी-छोटी बहिनें ही। अवस्था में जो सबसे बड़ी हैं—उन्हें वह नदी वाली जीजी ही कहता है। इन सभी में शकुन ने वर्षों पूर्व उसे सर्वप्रथम राखी बाँधी और वही उसके दुःख में पीड़ित हो अनेकों बार आँसू बहाती है। सम्पूर्ण जीवन में केवल इसी बहिन के विवाह में सम्मिलित हो पाया था वह।

सदैव ही से कर्ज वह मर्ज मानता है—जो किसी भी सभ्य पुरुष के एक ही क्षण में प्राण ले लेता है। इस समय लगभग एक हजार का कर्जदार है वह और उसी के अन्त की ओर अग्रसर हैं चरण उसके।

लम्बी अवधि तक प्रवासी ही रहा पर मिली शान्ति उसे प्रकृति-सिरताज हिमाचल-प्रदेश ही में—इसलिए कि उसकी दृष्टि में यह भोगियों के लिए नहीं—योगियों के लिए ही है और वे ही यहाँ असीम शान्ति साधनात्मक-जीवन व्यतीत कर पा भी सकते हैं।

विवाह-पूर्व एक नहीं—अनेक वेश्यालयों में भी गया वह—उन्हीं वेश्यालयों में जहाँ कि 'पूँजी' सम्बोधन ही सदैव सुनाई पड़ता है। क्या खोया यहाँ औ' क्या पाया, इसे जानता केवल ईश्वर।

उसका अन्तर उसे ही झकझोर प्रश्न कर बैठता है—'सभी से इतनी वेदना पाने के बाद भी दुनियायी-मैदान ही में खड़ा हुआ है अब तक किस स्वार्थ-वश ?' जो हृदय की बात, यह उसी की बात भी:—

'तमोगुण के कटु-फलों का रसास्वादन कर मैं यह देखता हूँ कि इन फलों ने मुझे अभी तक जिन्दगी के विषय में निराश-उदास नहीं किया है, आज भी मैं एक दुर्दम्य आशा अन्तर में लिए बैठा हूँ। जिन्दगी का सुख-दुःख से भरा हुआ प्याला तलछट तक पीने की अमिट पिपासा मुझमें अब भी बाकी है। कल तक पूर्व जीवन की

कटुता का निरीक्षण–परीक्षण कर मैं उद्विग्न होता था और आज प्रति-पल मुस्कराता—इसलिए कि मैंने जाना–माना–पहचाना—जिन्दगी 'हॉकी' का खेल है—खिलाड़ी गिरता है—चोट खाता है—काँपता है—हाँफता है और कभी कभी तो हड्डी-पसली तुड़वा कर लहू भी बहाता है। लेकिन क्या इसीलिए वह खेल-मैदान छोड़ दे? सच्चा खिलाड़ी तो हार–जीत से परे है—उसे तो चिर-सुख मिलता है निरन्तर खेलने ही में।'

लता ने पुत्री का नाम प्रथम समाधि रखा...फिर अन्य कई। यों वे दोनों उसे बेटू ही कहते हैं। बेटू संघर्षमय क्षणों ही में जन्मी है और इसीलिए वह उसे संघर्षमयी ही मानता है।

अब बेटू पाँच माह की हो गई है। जीवन अपनी सारी वेदना को उसी में तन्मय हो भूल जाता है। जीने की उसे साध नहीं है, फिर भी जीवित ही है—इसलिए कि जब तक है बेटू—उसका जीवित रहना है अनिवार्य ही।

: १८ :

आध्यात्मरत जीवन के स्वर हैं:—

'जहाँ-जहाँ स्वर ईश्वर वहीं ही की बात को मान्यता देने के पश्चात् भी अभी तक अन्य स्वरों में विपरीतता ही अनुभूत हुई और इसीलिए अब सभी को छोड़ स्वयं के आत्म-स्वर पर अटल विश्वास करने लगा हूँ—यही संजीवनी अपने को सुरक्षित रखने के लिये अनिवार्य सिद्ध हुई है मुझे।

मेरा इष्ट पाषाणों में ही निहित नहीं है—है वह—नित्य-पवित्र—सर्व-व्याप्त—सर्वान्तरयामी—सर्वशक्तिमान—अजर—अमर-अजन्मा ही।

इसी दृढ़ विश्वास ही में मानव-'मुक्ति-द्वार' पाया है मैंने!'